॥ अर्हम् ॥

श्रीनेमि विज्ञान कस्तूरसूरि-सद्गुरुभ्यो नम ।

कलिकालसर्वज्ञ–श्रीहेमचन्द्राचार्य–विरचिता

द्वात्रिंशिकाद्वयी ।

(अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिरन्य `
योगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिश्च ।)

श्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकला

व्याख्याविभूषिता

सपादक –

वि सं २०१५ मुनि सूर्योदयविजयः ।

प्रकाशक :–
शा. भाईलाल अम्बालाल
पेटलादवाला

मुद्रक :–
के. सीताराम आल्व
साधना-मुद्रणालय
गान्धीनगर बेंगलोर-९



आचार्य श्रीविनयविज्ञानसूरीश्वरजी महाराज साहेब

प. पू. आचार्य श्रीविजय कस्तूरसूरिशिष्यरत्न



श्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणि

यत्किंचित्

अयि विचक्षणा ! कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यैः किल नाऽविदितः केषामपि शब्दानुशासनादिप्रणयनप्रख्याताऽप्रतिमप्रतिभः कीर्तिव्याप्तदिगन्तरः । तेनैव स्वनामधन्येन विपश्चित्त्रिदशाध्वाऽनुपमज्योतिर्धरेण पुण्यश्लोकेन निर्मिते द्वात्रिंशिकाद्वयी चरमजिनश्रीमद्वर्धमानस्तुतिमय्ययोगव्यवच्छेदाऽन्ययोगव्यवच्छेदाभ्यां जिनासत्त्वसमर्थन--नानाविधवादपरीक्षासक्षणा । अत एव चेयमल्पास्स्याद्वादरहस्यजिज्ञासुभिः सादरमध्येतव्या मन्तव्या चेति नाऽत्र विमतिः कस्याऽपि मतिमतः । कतिपयैश्च व्याख्यातृभिः सेयं व्याख्याता विविधैः सन्दर्भप्रकारैः । किन्तु तासां व्याख्यानां कासाञ्चिदतिविस्तृतत्वात्काठिन्याच्च कासाञ्चिचाऽतितनुतनुत्वात्सरलतया भावाधनोधाऽपटीयस्त्वाच्चैतस्या अध्ययनादौ नातीवोत्सहन्ते रुचिमन्तोऽप्येतस्या श्रद्धालवो जिज्ञासवः । ततश्च ममाऽपि चात्र तेषां सरलमतीनां लेशतोऽपि सौकर्यसम्पादनमनसो नम्रः प्रयासः कश्चन तादृशः । यत्फलरूपेण च कीर्तिकलाख्यव्याख्याविभूषिता सैषा भवतां मनस्तोषाय प्रभवेदिति दृढं विश्वसिमि । तुलनायाञ्चाऽत्र कियान्नवीनोऽधिकमनोज्ञः प्रकारः पद्यानामवतरणेषु भावार्थप्रतिपादनेषु शब्दसंयोजनेषु शब्दार्थविवरणेषु च स्पष्टमेवाऽभिलक्षितः स्यादिति तत्र तत्रभवन्तः परिणतबुद्धय एव प्रमाणम् । यदि चाऽत्र किञ्चिदुत्सूत्रं मदीयमतितानवाद्भ्रमाद्वा, क्षन्तव्यं तत्समाधानभावनाभाविताऽन्तःकरणैर्गुणगृह्यैरिति ।

विदुषां प्रणयी---

श्री कीर्तिचन्द्रविजयगणिः ।

प्रकाशकीय

आज मैं इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सुअवसर मिलने के कारण अनुपम आनन्द तथा कृतकृत्यता का अनुभव कर रहा हूं।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'द्वात्रिंशिकाद्वयी' कलिकालसर्वज्ञ भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्य विरचित 'अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका तथा अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका का संग्रह रूप है।

इन दोनों स्तुतियों के उपर संस्कृत में अनेक व्याख्या तथा अवचूरिकाओं के होने का सम्भव है। किन्तु अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका का हिन्दी तथा गुजराती अनुवाद उपलब्ध हैं, संस्कृत व्याख्या उपलब्ध नहीं। अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका के उपर आचार्य श्रीमल्लिषेण सूरीश्वरजी कृत 'स्याद्वादमञ्जरी' नामक विस्तृत तथा व्युत्पन्नमतिभोग्य संस्कृत टीका उपलब्ध है। तथा हिन्दी तथा गुजराती अनुवाद तथा अन्य कई अवचूरिकाये भी उपलब्ध हैं। इन दोनों द्वात्रिंशिकाओं का अध्ययन आज जैन समाज में अत्यन्त आदर के साथ किया जाता है।

प्रस्तुत द्वात्रिंशिकाद्वयी पर 'कीर्तिकला' नामक संस्कृत टीका तथा हिन्दी भाषानुवाद--जिस के प्रकाशन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है--के रचयिता विद्वद्वर्यमुनिराज श्रीकीर्तिचन्द्रविजयजी गणिवर महाराज हैं, जो सासारिक सम्बन्ध से मेरे लघु सहोदर हैं।

वे आज से तेरह वर्षपूर्व आचार्यवर्य श्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरजी महाराज के पवित्र करकमलों द्वारा दीक्षित हुये, और आचार्यवर्य श्रीविजय कस्तूरसूरीश्वरजी महाराज के शिष्य बने।

आप ने इस असार ससार के स्वरूप का अपनी पत्नी को सासारिक अवस्था में ही सदुपदेश देकर सयममार्ग का पथिक बनाया। जिनका शुभनाम साध्वी श्रीजयप्रभाश्रीजी है। और आपने मुनिराज (सम्प्रति पन्यासप्रवर) श्री शुभङ्कर विजयजी महराज के साथ स० २००७ का चातुर्मास अपने जन्मस्थल पेटलाद में किया था, उस चातुर्मास की स्थिरता में आपने अपनी लघुभगिनी सविता को भी सयम मार्ग का उपदेश देकर दीक्षित किया, जो साध्वीश्री सत्यप्रभाश्रीजी के शुभनाम से ख्यात है। तदुपरात आपने अपने जीवन का अमूल्य समय पूज्य गुरुदेव की भक्ति एव सम्यग्ज्ञानोपार्जन में ही अपूर्व दृढचित्तता के साथ बिताया है। आपने व्याकरण, न्याय, साहित्य तथा जैन दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया है। आप के भक्तिभावपूर्णहृदय, तेजस्विता, विचक्षण बुद्धि, लोकप्रियता, व्याख्यान कौशल आदि कई गुणों को देखकर पूज्य गुरुदेवों ने पूना नगर में चातुर्मास के अनन्तर सं २०१४ के मार्गशीर्ष शुदि दशमी रविवार को पञ्चमाग श्री भगवतीसूत्र का योगोद्वहन कराकर गणि पदवी से अलङ्कृत कर जैनशासन को प्रदीप्त करने का शुभ आशीर्वाद प्रदान किया।

पूना से कविरत्न समर्थ व्याख्यानकार पन्यास श्रीयशोभद्रविजयजी महाराज के साथ विहार करते हुये आप दक्षिण में बेंगलोर नगर पधारे, तथा उसके उपनगर गान्धीनगर श्रीसंघ की चातुर्मासार्थ आग्रहपूर्ण विनती का स्वीकार कर पू. पं. श्री की आज्ञा से चातुर्मासार्थ गान्धीनगर पधारे, तथा इस चातुर्मास में हीं आपने उक्त द्वात्रिंशिकाद्वयी की 'कीर्तिकला' नामक संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी भाषानुवाद की रचना की है। यहां यह उल्लेखनीय है कि अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका की संस्कृत व्याख्या कर पूज्य गणिवर श्री ने अपूर्व कार्य किया है, जिसके फलस्वरूप एक अनपेक्षित न्यूनता का परिहार हुआ है। यह अत्यन्त अभिनन्दनीय तथा हर्ष की बात है।

इस मूल्यवान् पुस्तक के प्रकाशनार्थ कई पुण्यशालियों ने आर्थिक सहायता प्रदान कर मुझ को अत्यन्त उपकृत किये हैं। उन महानुभावों की शुभनामावली इस पुस्तक में अन्यत्र उल्लिखित है। इस अवसर पर मैं उन महानुभावों का सहर्ष आभार मानता हूँ। तथा प्रा. श्री हीरालाल रसिकदास कापडीयाजी ने विस्तृत तथा मननीय प्रस्तावना लिखकर इस पुस्तक के गौरव में जो अभिवृद्धि की है, तदर्थ मैं सहर्ष अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ।

यहा पर विशेषरूप से यह सूचित करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि दानवीर भावनगर निवासी श्रेष्ठिवर्य

श्रीगिरधरलाल दामोदरदासजी के सुपुत्र 'शान्तिलालभाई, नटवरलाल-भाई, तथा हीरालालभाई' तीनों भाइयों ने 'कीर्तिकला' हिन्दी भाषानुवाद का अवलोकन कर उसकी सरलता, तथा उस में किया गया विलक्षण दृष्टि से भावार्थ का प्रतिपादन तथा मनोज्ञता से प्रभावित होकर उक्त अनुवाद के साथ मूल द्वात्रिंशिकाद्वयी के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्ययभारवहन का स्वीकार कर प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय उदारता बतलायी है। जिससे इस पुस्तक के (कीर्ति कला संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी भाषानुवाद एवं मूल तथा हिन्दी भाषानुवाद) पृथक् पृथक् दो प्रकाशन सम्भव हो सके। उक्त तीनों भाइयों ने निजबुद्धिबल से प्रगति की है, तथा एक सुप्रतिष्ठित पेढी (धी सीयिर सायकल इम्पोर्टिंग कँ० बगलोर सिटी) के कार्यकर्ता हैं। तथा आप लोगो नें पूज्य महाराजश्री के चातुर्मास काल में अनेक धर्मक्रियाओं में सोत्साह एवं भक्तिपूर्वक भाग लिया है। तथा महाराजश्री का अपने बगले पर चातुर्मास परिवर्तन करा कर उस के उपलक्ष्य म अपनी लक्ष्मी का अनेक शुभकार्यों में सदु-पयोग कियाथा। इस प्रकार के धर्मप्रेमी तथा ज्ञानाराधन की भावनावाले उक्त तीनों भाइयों को जितना भी धन्यवाद दिया जाय, थोडा है।

पाठकों से सविनय निवेदन है कि–प्रस्तुत पुस्तक के मुद्रण काल में प्रूफ संशोधन आदि में सावधानी रखने पर भी दृष्टिभ्रम से तथा मुद्रण दोष से कितनी अशुद्धियां रह गयी है। तथा कुछ पाठ

त्रुटित रह गये हैं। इसलिये साथ में शुद्धिपत्रक दे दिया गया है। जिस का पठन पाठन के समय आवश्यकतानुसार उपयोग करेंगे। संस्कृत व्याख्या सहित पुस्तक में दोनों द्वात्रिंशिकाओं के मूल श्लोक मात्र पृथक् भी दे दिये गये हैं, जिससे अभ्यासियों को आवृत्ति आदि में सुविधा हो।

आशा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन तथा अध्यापन के द्वारा जिज्ञासुजन आप्त का परिचय प्राप्त कर सम्यक्त्व को दृढ़करने में प्रगति करेंगे इति

भवदीय—

शा भाईलाल अम्बालाल का

जय जिनेन्द्र ।



प्रस्तावना

आ पुस्तकमां संस्कृत भाषामां रचाएली बे मननीय द्वात्रिंशिका अने ए बन्नेनी कीर्तिचन्द्र नामनी संस्कृत व्याख्याने तेमज ए बन्नेना ए ज नामना हिन्दी अनुवादने स्थान अपायु छे । एनो संक्षिप्त परिचय हु आ प्रस्तावना द्वारा नीचे मुजब आपु छु —

द्वात्रिंशिकाओना प्रणेता [1]— जेमने वि स ११४५मां कार्तिक पूर्णिमाए धंधुकामां 'मोढ' वणिक ज्ञातिना पुण्यशाली चाचिगनी धर्मानुरागी पत्नी चाहिणीए जन्म आप्यो, जेमणे बाल्यावस्थामा वि स ११५४मा के मतान्तर प्रमाणे वि स ११५०मां 'पूर्णतल्ल' गच्छना देवचन्द्रसूरि पासे जैनधर्मनी कल्याणकारिणी प्रव्रज्या ग्रहण करी, जेओ वि स ११६२मां के वि स ११६६मां 'सूरि' बन्या, जेमणे व्याकरण, कोश, छन्द, अलकार, महाकाव्य, इतिहास, न्याय, धर्म इत्यादिने अंगे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो रच्या, जेओ 'अपभ्रंश'ना पाणिनि बन्या, जेमनु गुर्जरेश्वर सिद्धराज जयसिंहे तथा 'परमार्हत' नरेश्वर कुमारपाले सादर सन्मान कर्यु जेमणे आ आत्मरचना 'नन्दन वन' रूप गुजरातने रायताव्यतत्त्व बनावया भगीरथ प्रयास कर्यो जेमणे गुजरातीओना मानमा 'अस्मिता'नो मन्त्र फूक्यो, जेमणे 'कविकटार मल' रामचन्द्रसूरि वगेरे प्रकांड विद्वानोना गुरु बनवानु सद्भाग्य प्राप्त कर्यु, अनेक गृहस्थ धनपाळनी विद्वत्तानी साथी कदर करी, जेओ वि सं १२२९मां स्वर्गे संचर्या, जेमना बहुश्रुतादि गुणोथी आकर्षाईने

[1] आ पैकी शास्त्रीय साहित्यना प्रणेतेनो परिचय "जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास" नामना मारा पुस्तकमां खंड १मां, इतर साहित्यने अंगेनो खंड , उपखंड १मां अने दार्शनिक साहित्य परत्वेनो खंड २, उपखंड २-कमां में आप्यो छे ।

आपणा तेमज पाश्चात्य देशना कटेलाए धुरन्धर पंडितोए मुक्त कंठे जेमनी प्रशंसा करी, जेमने सर्वधर्मसमभाव अने परमतसहिष्णुतानी यशः-पताका दशे दिशामां लहेरावी, जेमने आर्यावर्तना संस्कारस्वामी तरीकेनुं गौरवांकित स्थान प्राप्त कर्युं, जेमने "कलिकालसर्वज्ञ"ना विरुदथी विभूषित कराया अने जेमनो स्मृति-उत्सव मुंबईमां, अमदावादमां अने विशेषतः पाटणमां वि. सं. १९३४-९५मां उत्साहपूर्वक शोभास्पद रीते उजवायो ते आ गुजरातना महाज्योतिर्धर 'हेमचन्द्राचार्ये' प्रस्तुत पुस्तकमां केन्द्र स्थान भोगवती अने निम्नलिखित ¶नामे ओळखावाती बे संस्कृत द्वात्रिंशिकाओ रची छे।

१ अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका।

२ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका।

सार्थकता :—आ स्तुतिरूप बन्ने कृतिमां पद्योनी संख्या बत्रीश बत्रीसनी छे। एटले ए बन्ने कृतिओना नामना अंतमां जे 'द्वात्रिंशिका' शब्द वपरायो छे ते सार्थक ठरे छे।

दार्शनिक विचारोने संस्कृतमां बत्रीश पद्योमां रजू करनार तरीके जैनोमां महातार्किक अने समर्थ स्तुतिकार "सिद्धसेन दिवाकर" प्रथम छे एम उपलब्ध साहित्य जोतां जणाय छे। † एमणे बत्रीश बत्रीशीओ रच्यानुं मनाय छे। ए कृतिकलापने 'द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका' कहे छे। न्यायविशारद न्यायाचार्य यशोविजय गणिए रचेली एक कृतिनुं नाम पण आज छे।

¶ आ नामो मल्लिषेणसूरिकृत स्याद्वादमंजरीनी अवतरणिकामां छे।

† बौद्ध विद्वान् वसुबन्धुए विंशिका अने त्रिंशिका रची छे। जैनोमां समभावभावी हरिभद्र सूरिए वीश विंशिकाओ जइण मरहट्ठी [जैन महाराष्ट्री]मां रची छे एने वीसवीसिया कहे छे।

छन्द—अयोग० द्वा०नां पद्यो १-११-१३, २७, २९ अने ३० उपजातिमां छे। १२मा पद्यनुं आद्यचरण इन्द्रवज्रामां अने बाकीनां त्रण वंशस्थमां छे। २८मा पद्यनां पहेलां बे चरणो वंशस्थमां अने बाकीनां बे उपेन्द्रवज्रामां छे। ओकत्रीसमुं पद्य रथोद्धतामां अने ३२मुं शिखरिणीमां छे।

अन्य०द्वा०नां पहेलां ३१ पद्यो पैकी २०मा अने २२मा सिवायनां उपजातिमां, २०मुं अने २२मुं उपेन्द्रवज्रामां अने अंतिम शिखरिणीमां छे।

आम बन्ने द्वात्रिंशिकाओ छन्दनी अपेक्षाए पण साम्य धरावे छे।

विवरण—अयोग० द्वा० ए अन्य० द्वा० करतां *सुगम छे। पूर्वी के अन्य कोई आचार्ये एना उपर स्पष्टीकरण रूपे कोई प्राचीन टीका के टिप्पणरूप लखाण संस्कृतमां जणातुं नथी। आ न्यूनता प्रस्तुत व्याख्याकार श्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिए लगभग ६०० श्लोक जेवडी छ पद्योथी नवी वधारेली अने 'कीर्तिकला' नामनी संस्कृतमां व्याख्या रची दूर करी छे। ओ माटे ओमने अभिनन्दन घटे छे।

विशेषमां ओमणे अन्य० द्वा० उपर पण लगभग ९०० श्लोक जेवडी अने पांच पद्यनी प्रशस्तिवाळी कीर्तिकला नामनी संस्कृत व्याख्या रची छे अने ए वि स २०१५मां—आ वर्षे मौन एकादशीने दिवसे पूर्ण करी छे।

आम जे आ बन्ने गद्यात्मक व्याख्याओ तेमज वीतरागस्तोत्र अने महादेवस्तोत्रनी पण व्याख्याओनुं 'कीर्तिकला' एवुं ओक ज नाम राख्युं छे ते मल्लिनाथे कालिदासकृत 'रघुवंश' कुमार संभव अने मेघदूत ओ त्रणनी टीकानुं 'संजीविनी' नाम राख्युं छे तेनुं स्मरण करावे छे।

अन्य० द्वा० उपर मल्लिषेणसूरिए महत्त्वपूर्ण अने विद्वद्भोग्य

---

* जुओ स्याद्वादमंजरीनी अवतरणिका।

वृत्ति नामे स्याद्वादमंजरी संस्कृतमां शकसंवत् १२१४ (=वि. सं. १३४९)-मां जिनप्रभसूरिनी सहायताथी रची छे । एओ 'नागेन्द्र' गच्छना उदयप्रभ सूरिना शिष्य थाय छे । स्याद्वादमंजरीनी रचना एवी थइ छे के ए एक विवरण छे ते वात सामान्य जनता जाणे भूली गइ छे अने एने ज मौलिक कृति समजे छे । अरे केटलाक विद्वानोए पण एम मानी लीधुं छे । एमां जे दार्शनिक संभार भरेलो छे एथी अेने शब्दार्थ पूरती सामान्य केवल मूलोपजीवी (Parasitical) टीका न गणतां एने स्वतंत्र मौलिक ग्रन्थनुं गौरवशाली पद प्राप्त थाय छे ¶ ।

आ सूरिनो समस्त अजैन दर्शनोनो अभ्यास एकसरखो ऊंडो नथी । न्याय—वैशेषिक इत्यादिनो बोध घणो सारो छे, परन्तु वेदान्तादिनुं निरूपण एटलुं सबल नथी एम डॉ. आनंदशंकर बापुभाई ध्रुवनुं कहेवुं छे † ।

स्याद्वादमंजरीना विवरणरूपे न्या० वि० न्यायाचार्य यशोविजयजी गणिए स्याद्वादमंजूषा रची हती एम मनाय छे ।

वानरर्षिए उर्फे विजयविमले अन्य० द्वा० उपर संस्कृतमां एक टीका रची छे ते अमुद्रित छे । एनी एक हाथपोथी अहींना (सुरतना) जैनानंद पुस्तकालयमां होवानो उल्लेख मले छे ।

¶ जुओ स्याद्वादमंजरी उपरनो डॉ ध्रुवनो अंग्रेजी उपोद्घात(पृ १२५)। आ "Bomcay Saskrit and Prakrit Series No "LXXXIII" तरीके "भाडारकर प्राच्य विद्यासंशोधन मंदिर" तरफथी इ स. १९३३-मा अन्य० द्वा० स्याद्वादमंजरी अने अेने अगेना डॉ ध्रुवना अंग्रेजी टिप्पणो सहित प्रसिद्ध कराएल छे ।

† बारमा पद्यने अंगेनी स्याद्वादमंजरी (पृ. ७६)मा हेतु तरीके 'कालात्ययापदिष्ट'नो जे उल्लेख छे ते भ्रान्त छे अने ए 'सत्प्रतिपक्षी' याने प्रकरणसम जोइए एम कह्युं छे —एजन पृ. १०५ ।

अन्य० द्वा ना आद्य अगियार पद्यो पूरती अने लगभग २०० श्लोक जेवडी संस्कृत वृत्ति नामे 'आप्तस्तुतिवृत्ति' आगमोद्धारक श्री आनंद सागर सूरिए वि० सं० १७८४ पहेला रची छे।

अन्य० द्वा० उपर जे कीर्तिकला रचाइ छे तेमां, स्याद्वादमंजरीमां जे विविध आनुषंगिक ¶ विषयोनु निरूपण छे ते पैकी तमोवाद सिवायना कोइ विषयने स्थान मळ्युं नथी ते एनी मर्यादाने आभारी जणाय छे।

भाषांतर—अयोग० द्वा ना पंचाद्धोद्धारक श्रीविजयानन्दसूरिए उर्फे आत्मारामजी महाराजश्रीए वि सं १९५१मां हिन्दीमां ‡ बालावबोध रच्यो छे। एमां पद्योना अन्वय सरल न आपता कटके कटके भाषी एनो हिन्दीमां अर्थ कराया छे। आ ज सूरिए आ द्वात्रिंशिकानो गुजरातीमां २ भावार्थ कर्यो छ अने म पण एनो अनुवाद कर्यो छ पण ए अत्यारे तो अप्रकाशित छे। विशेषमां शास्त्री जगदीशचन्द्र जैने आ द्वात्रिंशिकानो हिन्दीमां ¶ अनुवाद कर्यो छे।

¶ समुद्घात, छल, जाति अने निग्रहस्थान, जिनाल्पनुं निमाण, वेदनी अपौरुषेयता, असत्ख्याति वगेरे ख्यातिओ, शब्दना पौद्गलिकता, आत्मानी अने सर्वज्ञनी सिद्धि, सप्तभंगी, सकलादेश अने विकलादेश, मासादिमां जीवोत्पत्ति, नैगमादि नयो अने प्रमाणना भेदो, पृथ्वी अने वनस्पतिनी सचेतनता तेमज निगोदनु स्वरूप।

‡ आ बालावबोध इ स १९० मा प्रकाशित तत्त्वनिर्णय प्रासाद (भाग ३ पृ ८४-११८)मां छपाएल छ।

२ आ इ स १९१३मा प्रसिद्ध थएला "धर्म सन्मित्र" (पृ १५१-१६०)मा अपायो छे।

। आ अनुवाद "रायचंद्र जैन शास्त्रमाला"मा थयेल हेम द्वा त्रिंशिकाओ स्याद्वादमंजरी अन्य० द्वा ना तमज स्याद्वादमंजरीना हिन्दी अनुवाद, थने द्वात्रिंशिकाओना पद्योनी अनुक्रमणिका अने एमनां

अन्य० द्वा०नुं तेमज स्याद्वादमंजरीनुं गुजराती * भाषांतर हीरालाल वि. हंसराजे कर्युं छे । मूळ तथा स्याद्वादमंजरीनो हिन्दी अनुवाद‡ उपर्युक्त शास्त्रीए कर्यो छे । में अन्य० द्वा०नो गुजरातीमां अनुवाद कर्यो छे । ए हवे पछी छपाशे ।

श्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिए बंने द्वात्रिंशिकानो हिन्दीमां भावानुवाद कर्यो छे ।

डॉ. ध्रुवे स्याद्वादमंजरी सहित मूळनुं अंग्रेजी उपोद्घात अने टिप्पण सहित संपादन कर्युं छे § ।

आ उपरथी जोइ शकाशे के उपर्युक्त बे "हैम" द्वा० त्रिं० काओ पैकी एकेनुं अंग्रेजी भाषांतर अत्यार सुधीमां कोइए कर्युं होय अने ते प्रसिद्ध थयुं होय एम जणातुं नथी । जो एम ज होय तो पहेली तके ए कार्य हाथ धरावुं जोइए । आगळ वधीने कहुं तो जैन दर्शननी विशिष्टतादिनुं यथायोग्य सन्मान अने मूल्यांकन थाय तेमज विविध भारतीय अजैन दर्शनोना मुख्य मन्तव्योनुं पण परिचय थाय ते माटे स्याद्वादमंजरीनुं अंग्रेजीमां भाषांतर करावी ते प्रकाशित कराववुं जोइए ।

पद्धति—बन्ने द्वात्रिंशिकाओ श्रमण भगवान् महावीरस्वामीनी स्तुति रूपे छे अने ए द्वारा एमने यथार्थवादी—आप्त सिद्ध करवानो उद्देश छे । तेम छतां बन्नेनी रजूआतमां फेर छे, अयोग० द्वा० द्वारा जैन दर्शन सत्य दर्शन छे ज एम स्वपक्षसाधननुं – विधायक

विशिष्ट शब्दोनी सूची तेमज विविध परिशिष्टो सहित इ स १९३५-मा प्रसिद्ध करायो छे ।

* आ अनुवाद मूळ तेमज स्याद्वादमंजरी सहित भाषांतरकारे इ. स. १९०३मा छपाव्यो छे ।

‡ आ छपायो छे । जुओ पृ १०

§ आ संस्करण प्रकाशित छे । जुओ पृ. ५

नीतिनु—पोताना पक्षना संरक्षणनु प्रदर्शन छे ज्यारे अन्य० द्वा० द्वारा अजैन दर्शनो एकान्तवादनो आश्रय लेता होवाथी एमा सत्य नथी एम परपक्षदूषणनु=निषेधात्मक (खंडनात्मक) नीतिनु-परपक्षोना उपरना आक्रमणनु प्रदर्शन छे। आ जातनी द्विविध पद्धति बादरायण-कृत ब्रह्मसूत्रनो द्वितीय अध्यायना प्रथम अने द्वितीय पादने अंगे जो‌वाय छे। स्वपक्षस्थापन अने परपक्ष दूषण ए बेनो प्रयोग आचार्य सायणे ऐतरेय ब्राह्मणनी टीकामा कर्यो छे ‡।

अवतरणो— अयोग० द्वा०माथी २१, २५, अने ३१ क्रमाक वाला त्रण पद्यो 'कलि०' हेमचन्द्रसूरिए "प्रमाणमीमासा" (अध्याय १, आह्निक १, सूत्र १६)नी स्वोपज्ञ वृत्तिमा अवतरण रूपे आप्या छे। विशेषमा एमणे योगशास्त्रना प्र० २, श्लो ४ ना स्वोपज्ञविवरणमा १२मु अने २२मु पद्य, अने प्र० २ श्लो० १७ना विवरणमा २७मु पद्य टाचण रूपे आप्या छे,⁎ २०मु पद्य वीतरागस्तोत्र (प्र ६, श्लो० ४)ना विवरण (पत्र ४९)मा प्रभानंदसूरिए उद्धृत कर्यु छे। ३१मु पद्य मेरुतुग सूरिए "प्रबन्धचिन्तामणि" (प्र ४, पृ १८५) मा अने 'प्रभाचन्द्रसूरि' ए प्रभावक चरित (शृङ्ग २२)मा ३४७मा पद्य तरीके आप्यु छे। प्रथम पद्यनु 'श्रीवर्धमानाभिधम्" जेटलो अंश अन्य० द्वा०ना आद्य पद्य उपरनी स्याद्वादमंजरीमा जोवाय छे।

अन्य० द्वा०नु ३०मु पद्य 'कलि०' हेमचन्द्रसूरिए सिद्ध हेमचन्द्र (१-१-२)नी स्वोपज्ञ बृहद्वृत्तिनामे तत्त्वप्रकाशिकामा उद्धृत कर्यु छे अने कनकप्रभे एना उपर पोते रचेला न्यासमा एनु विवरण कर्यु छे। व्याख्याविशारद मलयगिरिसूरिए आवस्सय उपरनी टीका (भाग १, पत्र ११ आ)मा "तथा चाहु स्तुतिषु गुरव" एवा उल्लेखपूर्वक आज

‡ जुओ डॉ० ध्रुवना टिप्पणो (पृ ८)

⁎ जुओ बिब्लिओथेका इन्डिका सिरीझ' मा प्रकाशित आवृत्तिना पृ० १६९ १८९ अने ५८८—हेमसमीक्षा (पृ० २२७)

पद्य अवतरण तरीके आप्युं छे । आ ज पद्य माधवाचार्ये सर्वदर्शन-संग्रहमां आर्हत दर्शनमां उद्धृत कर्युं छे परन्तु एने तेमज एनी पहेलां न्यायावतारमांथी आपेलां बे पद्योने पण स्याद्वादमंजरीना होवानो भ्रान्त उल्लेख कर्यो छे । न्या०वि० न्यायाचार्य यशोविजयगणिए नयोपदेश (श्लो. ११८)नी स्वोपज्ञ वृत्ति नामे नयामृततरंगिणीमां चोथुं पद्य अवतरणरूपे आप्युं छे ।

रचनाक्रम—कीर्तिकला (पृ. १९ अने ४९)मां अयोग० द्वा० अन्य द्वा० करतां पहेलां रचायानो उल्लेख छे। आ बाबत कोइ प्रमाण अपायुं नथी अने अद्यापि मने पण कोइ मल्युं नथी । एथी तेमज पृ. १९मां "इदम्" नुं स्पष्टीकरण जोइ व्याख्याकारने आ संबंधमां पुछावतां एमणे नीचे मुजबनो खुलासो लखी मोकलवा कृपा करी छे ।

(१) स्याद्वदमंजरीमां अयोग० द्वा०ना निर्देशपूर्वक अन्य० द्वा० नो उल्लेख छे ।

(२) अन्ययोगव्यवच्छेदनुं स्थान अयोगव्यवच्छेद पछी ज होय । जो एम न होय तो अन्ययोगव्यवच्छेदरूप निरूपण बाद अयोग-व्यवच्छेद निरूपणनो शो अर्थ ?

रचनासमय-परमार्हत कुमारपालनी अभ्यर्थनाथी योगशास्त्रनुं स्वोपज्ञ विवरण रचायु हतु । एमां अयोग० द्वा०मांथी अवतरणो अपायां होवाथी आ द्वात्रिंशिका वि. सं. ११९९ पहेलां रचाएली गणाय ।

विषय—कलि० हेमचन्द्रसूरिए एकंदर पांच स्तोत्रो रच्यां छे :-(१-२) अहीं अपाएल बे द्वात्रिंशिका (३) ‡ वीतरागस्तोत्र (४)

---

‡ आ नामोल्लेखपूर्वक एमा थी त्रणपद्यो योगशास्त्र (प्र. २-१२२) ना स्वोपज्ञविवरण (पत्र २१७ आ)मा अपाया छे । आ पत्राक जैनधर्मप्रसारक सभा तरफथी सविवरण योगशास्त्रनी आवृत्तिनो छे।

महावीरस्तोत्र अने (५) सकलार्हत । ए बधामां अयो० द्वा० अने वीतरागस्तोत्र विशेष महत्त्वना छे ।

अयो० द्वा०मां अनुक्रमे नीचे मुजबनी बाबतो रजू कराइ छे † —

(१) महावीरस्वामीनी स्तुति करवानी प्रतिज्ञा, (२) स्तुति करवानी अशक्ति, (३) स्तुतिकारनी लघुता, (४) अजैनोना देवोए दूषणोने आपेलो आश्रय, (५) महावीरस्वामीनो यथार्थवादिता, (६) व्यय करवानो अभाव, (७) ईर्ष्यालुओनी दुष्टता (८) वीरशासननी आगेवानी, (९) वीरशासन विषे संदेह अने विप्रतिपत्तिनी अनुचितता, (१०) अजैन आगमनु अप्रामाण्य, (११) वीरागमनु प्रामाण्य, (१२) वीरनी देशनानी अजेयता, (१३) वीरशासननी उपेक्षाना कारणो, (१४) केवल तपश्चर्यादिथी मुक्तिनी अप्राप्ति, (१५) अजैनोना उपदेशनी निष्फलता (१६) वीरशासनना विघ्ननो अभाव, (१७) अजैन देवोना स्वरूपोमां परस्पर विरोध, (१८) अवतारना अभावनु कारण, (१९) वीरदेशनानी अपूर्वता, (२०) जिन मुद्रानी लोकोत्तरता, (२१) वीरशासनने नमस्कार, (२२) वीरनी यथार्थवादिता (२३) आग्रहीओने प्रतिबोधवानी स्तुतिकारनी अशक्ति, (२४) समवसरणनी महत्ता, (२५) महाविभ्रमस्त अजैन देवोना साम्राज्यनी व्यर्थता, (२६) बुद्धिशालीओने आकर्षणनु कारण, (२७) मध्यस्थोनी मत्सरता, (२८) स्तुतिकारनी उद्घोषणा, (२९) स्तुतिकारनो वीर प्रत्येना आकर्षणनो हेतु, (३२) वीरवाणीनी महत्ता (३१) वीतरागनी उत्तमता अने (३२) स्तुति रचनाना उद्देशो संबंधी दृष्टिबिन्दुओ

पांचमा पद्यमां उपहास कराया छे। एवा बीजा उदाहरण अन्य०

---

† आ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रना दश आदिमोना जेम पर्विपर्वना प्रारम्भना चार पद्यरूप जणाय छे। एथी आना स्वतन्त्र गणना करी न केम ते विचारवानी होइ स्फुर आवश्य गणे छे।

द्वा०नां पद्यो १०, १२ तेमज १६–१८मां छे ।

अन्य० द्वा० नां आद्य तेमज अंतिम त्रण त्रण पद्यो महावीरस्वामीनी स्तुतिरूपे छे । पद्य ४–२० मां ¶ वैशेषिकादि सात अजैन दर्शनोनी समीक्षा छे अने एनां पछीना नव पद्यमां जैन न्यायनुं निरूपण छे । आ वात हुं विस्तारथी कहीशः—

पहेलां त्रण पद्योमां अनुक्रमे चार † मूलातिशयोनुं सूचन, यथार्थवादनी स्तुति अने नयमार्गनी विचारणा माटे ‡ विज्ञप्ति ए बाबतो रजू कराइ छे :–

पद्य ४–९मां वैशेषिकोनां निम्नलिखित मंतव्योनुं निरसन करायुं छे ।

सामान्य–विशेषवाद, नित्यानित्यवाद, जगत्कर्तृवाद, धर्म अने धर्मीनी एकांते भेद अने समवाय, सत्पदार्थोनी सत्ता, ज्ञाननी औपाधिकता अने आत्माथी भिन्नता तथा मोक्षमां ज्ञान अने आनन्दनो अभाव, तेमज आत्मानी सर्वव्यापकता ।

पद्य १३मां वेदान्तिओना मायवादनुं निरसन छे ।

¶ वैशेषिक दर्शननी, सत्यना शोधननी लाक्षणिक पद्धति विशेषो शोधी काढवानी छे । एथी तो ए दर्शननुं ए नाम योजायुं छे अने एथी ए दर्शननी समीक्षा जे सौथी प्रथम हाथ धराइ छे ते उचित छे एम डॉ० ध्रुवे (पृ २५)मा कह्युं छे । स्याद्वादमंजरीमा विशेषणोनी सार्थकता दर्शावतां, अतीतदोषं' एम अनंतविज्ञानं कहेवा छतां जे कह्यु छे ते वैशेषिकोना मतना निरसनार्थे छे एवो उल्लेख छे । ए हिसावे तो वैशेषिक दर्शननी समीक्षा आद्य ज पद्य थी गणाय छे ।

† आने अगे में " तीर्थंकरनी विभूति नामनी मारी लेखमालामां लेखाक २मा विस्तारथी विचार कर्यो छे ।

‡ वेदान्तना हितार्थे, खंडनखंडखाद्यनो उद्वेग आ साथे सरखाववा जेवो छे । जुओ डो० ध्रुवनो अंग्रेजी उपोद्घात (पृ० ३) ।

दसमा पद्यमा नैयायिकोना वितण्डा नामना पदार्थनो उपहास करायो छे ।

पद्य ११-१२मा पूर्व मीमांसकोनी वेदविहित हिंसा तेमज ज्ञाननी केवळ परप्रकाशतानु खण्डन छे ।

पद्य १४मा वाच्यवाचकभाव विषे विचार करायो छे ।

पद्य १५मा सांख्योना चैतन्य, बुद्धि, तन्मात्रा अने पुरुषना बन्ध अने मोक्ष संबधी मतव्योनी आलोचना कराइ छे ।

पद्य १६-१९ मा बौद्धोना निम्नलिखित मतव्यो विषे ऊहापोह छे प्रमाण अने प्रमितिनी समकालीनता तेमज एमनो ज्ञानाद्वैतवाद, शून्यवाद, क्षणभंगवाद तेमज वासना अने क्षणसन्तति ।

पद्य १९मां "यादर्शिशकुन्तपोत" न्यायनो उल्लेख छे । पद्य २०मां नास्तिक (चार्वाक)नी मान्यतानु निरसन छे । पद्य २१-२९मां अनुक्रमे प्रत्येक पदार्थनी उत्पादादित्रयी युक्तता, प्रत्येक पदार्थनी अनंतधर्मात्मकता, द्विविध सप्तभंगी, सत्त्वादिमां अ विरोध, कथंचित् सत्त्वादिरूप उद्गारो, एकान्तवादनु निरसन, दुर्नयवादनी विगतो, दुर्नय, नय अने प्रमाणनु स्वरूप, तेमज जीवोनी अपरिमित संख्या विषे निरूपण छे ।

पद्य ३०मा वीतरागमतनो निष्पक्षपात, ३१मां वचनातिशयना अपरिमितता अने ३२मां वीरनो निर्भोदारक तरीक उल्लेख छे ।

§ दुष्करताना दृष्टांतो – प्रभुना सत्र गुणोनी विवेचना करवी अशक्य छे ए बाबत ३१मा पद्यमा बे दृष्टान्तो द्वारा दर्शावाइ छे —

(१) समुद्रनु पगथी उल्लंघन करवु ।

---

§ वीतरागस्तोत्रना प्रथम प्रकाशनु पद्य आठमु स्तुतिद्वारा स्तुति करवाना असमर्थतानु सोचन करे छे । एने अंगे पाताने मनुष्य पगारे चालीने पन पगने तेनी जेम आ दुष्कर-अशक्य कार्य छे एम कह्यु छे ।

[२] ज्योत्स्नानुं पान करवानी इच्छा राखवी ।

सन्तुलन—सिद्धसेन दिवाकरे रचेली द्वात्रिंशिकाओथी प्रभावित थइ 'कलि०' हेमचन्द्रसूरिए बे द्वात्रिंशिकाओ रची छे एटले एमां शाब्दिक तेमज आर्थिक साम्य जणाय ए स्वाभाविक छे । आ उपरांत स्तुतिकार समंतभद्र वगेरेना अन्य ग्रन्थो साथे पण ओछे वधते अंशे साम्य जोवाय छे ए बाबत अवतरणो आपीने अने केटली वार तेम कर्या विना श्री० जगदीशचन्द्र जैने पोताना संस्करण (पृ. ३४७, ३५४)मां दर्शावी छे । ए हुं नीचे मुजब रजू करुं छुं:—

अयोग० द्वा०	अन्यकर्तृकग्रन्थ
१	द्वात्रिंशिका १, २, ३, युक्त्यनुशासन १
२	कल्याणमंदिर स्तो० ३–६ द्वात्रिंशिका ५, २१, भक्तामरस्तोत्र २–६ स्वयम्भूस्तोत्र १५, ३० ।
४	भक्तामरस्तोत्र – २७ ।
६	द्वात्रिंशिका १, ७, योगशास्त्र, [प्र. २, १]नी स्वोपज्ञ वृत्ति ।
८	,, २, ११
११	§§ आप्तमीमांसा ६. युक्त्यनुशासन–६,,
१२	,, १–६
१३	युक्त्यनुशासन ५
१४	द्वात्रिंशिका १, २३, युक्त्यनुशासन ३७
१६	,, १, १७; ५, २६, २७
२०	,, २, १५, पातंजलयोगदर्शन [४, १२५ ?]
२६	,, ५, २३
२९	,, १, ४; युक्त्यनुशासन ६४, लोकतत्त्व निर्णय ३२,

§§ आ त्रणे कृतिओ दिगंबर स्तुतिकार समन्तभद्र के जेमने हुं "मुरजसमन्तभद्र" कहुं छु तेमणे रची छे ।

३३, स्वयम्भूस्तोत्र ५१ ।

३० ” २, १७

अन्य० द्वा०नु सतुलन माटे आलो प्रयास थयो नथी । बाकी शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका इत्यादि महामूल्य शास्त्र ग्रन्थो आ विषयना आकरग्रन्थो छे ।

मूल्यांकन—अयोग० द्वा०नु मूल्यांकन कर्त्ताए आते अंतिम पद्य द्वारा कर्यु छे । अेमणे कह्यु छे के कोमल (मद) बुद्धिशाली व्यक्तिने मन आ स्तोत्र श्रद्धाजन्य, विवादरमिकने मन परनिन्दापरक अने सत्यपरीक्षकने मन तत्त्वदर्शक छे ।

अन्य० द्वा०नी प्रशंसा डॉ ध्रुवे करी छे,* ए द्वात्रिंशिकामा केवल ऊर्मिनी रेलछेल छे एम नहि, परतु ए तार्किकताथी ओतप्रोत छे ए कोइ विसंवाद नथी । टूकमा कहु तो बन्ने द्वात्रिंशिकाओ दार्शनिक साहित्यना भूषणरूप होवा साथे साथे भक्तिसाहित्यना—स्तुतिस साहित्यना पण मनोरम नमूनारूप छे ।

कीर्तिकला अने एना कर्त्ता—कीर्तिकला विषे में बन्ने द्वात्रिंशिकानी व्याख्या विषे उल्लेख करती वेळा (पृ ३)मां थोडुक कह्यु छे । एना प्रारम्भना पाच पद्यो द्वारा अनुक्रमे सामान्य जिननी द्वात्रिंशिकाकार (हेमचन्द्रसूरि)नी अने व्याख्याकारना प्रगुरु श्रीविजयविज्ञानसूरि ना गुरु अर्थात् व्याख्याकारना धर्मप्रपितामह–जैन जनताना प्रथम पङ्क्तिना कर्णधार श्रीविजयनेमिसूरिनी, प्रगुरुनी अने गुरु श्रीविजयकस्तूरसूरिनी स्तुति कराइ छे ।

छट्ठा पद्यमां व्याख्याकारना शिष्य नामे मुनिचन्द्रनी अभ्यर्थनाथी प्रस्तुत व्याख्या रचायानो उल्लेख छे । अहीं आ व्याख्याने ‘सरल’ तेमज ‘लघु’ कही छे ते वात यथार्थ छे ।

---

* जुओ स्याद्वादमंजरीनो अंग्रेजी उपोद्घात (पृ १२४–१२५)

अवतरणिका, § अन्वय तेमज अन्वयगत पदादिना क्रमे थे पदादिनुं पर्याय पूर्वक ‡ स्पष्टीकरण एम प्रत्येक पद्यनी व्याख्याना मुख्य त्रण अंग छे । कोइ कोइ वार मूलना निर्देश पूर्वक अने वणुं-खरुं एम ने एम अवतरणो अपायां छे। पद्योनी संकलना – शृंखलाबद्धता उपर प्रकाश पड़ायो छे एथी मूलनुं महत्त्व तरी आवे छे ।

अयोग० द्वा०नुं २६मुं पद्य "काव्यलिंग" नामना अलंकारथी विभूषित होवानुं कहूयुं छे। एना सातमा पद्यमां 'प्रलम्भं' ने क्रियाविशेषण गणी एनो भावार्थ अपायो छे एम व्याख्याकारने पुछावतां जाणवां मल्युं छे ।

अयोग० द्वा०नी व्याख्या एकंदर सुबोधक अने दोषो थी मुक्त रचाइ छे एटले आ प्रयास प्रशंसनीय गणाय ।

पृ० ९९मां § सप्तभंगीप्रकरण अने नयचक्रनो तथा पृ० १०४ मां 'सुन्दोपसुन्द' न्यायनो उल्लेख छे ।

पृ० १०३मां जे 'ढेकार' शब्द वपरायो छे ते मारी पासेना एक पण कोशमां नहि मलवाथी व्याख्याकारने पुछावतां तेमणे जणाव्युं –

'ढेकार' ए गुजरती ओडकार माटेनो अनुकरणरूप शब्द छे। ए क्यांक 'ऊर्ध्वं गच्छति ढेकारः'मां वपरायो छे ।

अन्य० द्वा०ना द्वितीय पद्यने अंगे पृ. ५५मां पाठांतर अपायुं छे तेमज अयोग० द्वा०ना १८मा पद्य परत्वे अन्यत्र पाठांतर मले छे तो पाठांतरो अपायां होत तो कीर्तिकलाना महत्त्वमां वृद्धि थते।

---

§ अयोग० द्वा०ना पंदरमा पद्यनो अन्वय स्वतः सिद्ध होवाथी ए अपायो नथी ।

‡ 'च' अने 'वा' ना विशिष्ट अर्थो दर्शावाया छे ।

§ जुओ शुद्धिपत्रक । आ कृति पंन्यास श्रीशिवानन्दविजयगणिए रची छे ।

स्याद्वादमंजरी ए एमां आवती अनेकविध दार्शनिक चर्चाओने लईने सामान्य रीते दुर्गम मनाय छे अने एथी एनो यथायोग्य अभ्यास करवानी वृत्ति अल्प प्रमाणमां जोवाय छे । प्रस्तुत व्याख्या एना प्रवेशद्वारनी गरज सारे तेवी छे एटले आ परिस्थितिमां सुधारो थवानो संभव छे । जो खरेखर तेम थशे तो व्याख्याकारे सेवेलो परिश्रम कृतार्थ थयलो गणाशे अने मारा जेवाने आनन्द थशे ।

ऋणस्वीकार– मने द्वात्रिंशिकाओना गुजराती अनुवाद तैयार करवानी मारी अभिलाषा कीर्तिकला वांचतां विशेषतः तीव्र बनी अने ए कार्य में थोडा अंश उपर यथामति कर्युं ते बदल हुं व्याख्याकारनो आभार मानुं छुं । विशेषमां आ प्रस्तावना लखवानुं कार्य व्याख्याकारे मने सोंप्युं तेथी प्रस्तुत विषयना मारा अभ्यास परत्वे मने जे लाभ थयो ते माटे पण हुं एमनो ऋणी छुं ।

लाडवी शेरी, गोपीपुरा, सुरत ता २५-१२-४८ — हीरालाल र. कापडिया



सहायकों की शुभनामावली

प्रति	नाम	स्थान	प्रति	नाम	स्थान
५५	पारेख राघवजी लक्ष्मीचंद	बेंगलो	५	शाह नवीनचंद एन्ड कं	बेंगलोर
३०	देसाई लल्लुभाई वेलचंद	,,	५	केशवलाल एन्ड कं.	,,
३०	धी. सीनियर सायकल कं-	,,	५	शाह नेमचंद वालाभाई	,,
५	पारेख लवजी गोरधन	,,	५	वोरा नानालाल शंभुलाल	,,
५	पारेख रतनसी कल्याणजी	,,	५	शाह हीराचंदजी फुलचंदजी	,,
५	धी. हंसा पिक्चर्स	,,	५	शाह देवीचंदजी पनाजी एन्ड कं.	,,
५	शाह बाबुलाल हीरालाल कं-	,,	५	,, देवीचंद नीसरीमल एन्ड कं.	,,
५	शाह पारावीर लालचंद	,,	३	शाह मनसुखलाल मोतीलाल	,,
५	स्वस्तिक ड्रेस मेन्यु. कं.	,,	३	भंडारी वस्तीमल भानाजी	,,
५	शाह जमनादास पोपटलाल	,,	३	शाह रतिलाल जगजीवन	,,
५	महेता वसनजी सांकरचंद	,,	२	धी. नरेन्द्र स्टोर्स	,,
५	शाह अमृतलाल भाईचंद	,,	२	शाह महेता एन्ड कं. हा. बचुभाई	,,
५	शाह प्रभुदास अमुलख	,,	२	देसाई मणीलाल नेमचंद	,,
५	रजनीकान्त एन्ड कं.	,,	१	शाह वाडीलाल करसनजी	,,
५	धी. किरन मेंटल स्टोर्स	,,	१	शाह सरेमलजी शीवराज	,,
५	धी. मेट्रोपोलीटन सायकल कं.	मद्रास	१	पारेख पोपटलाल गोरधन	,,



द्वात्रिंशिकाद्वय्याः कीर्तिकलासहितायाः

– शुद्धिपत्रकम् –

पृ	प	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	१०	ग्रन्थणुप	ग्रन्थाण्युप
२	२०	कलसे	कलसे
३	१८	न	न
४	३, ६,	आत्मनिशाष, निगुण	आत्मविशेष, निर्गुण
४	९	श्लेरद्वय	श्लोकद्वय
७	३	तव	॥
८	३, २०	वितराग, तिर्थिकम्सरसम्	वीतराग, तीर्थिकमत्सराम्
१०	४	दना	दानेन
१२	१६	दयलु	दयालु
१२	२०	मन्तनितो	मन्तानितो
१३	९	प्रान्शाषु	प्रदेशेषु
१३	१७	विनेष	त्रिनेष
१३	१९	विन्स्यना	विडम्बना
१३	६	विडम्बनेय	विडम्बनेय
१४	१, ७,	तागनम्यो, स्वदित्याह	नामनम्यो स्वादित्याह
१४	८	दारण्य	नारण्य
१६	१	व्यख्या	व्याख्या
१६	१०	प्रपाम्येन	प्रायम्येन
२०	१	महति	महति
२०	५	मेतन्नाऽऽह	मेतन्नाऽऽह

२१	१०	भोक्षस्या	मोक्षस्या
२२	११	कृत्म्न	कृत्स्न
२३	११	क्लृस्य	क्लृप्तस्य
२४	११	भित्यर्थं	मित्यर्थ
२६	६, ७	उद्देश, परिहारेंणैव	उपदेश, परिहारेणैव
२७	२	ध्यनैक	ध्यानैक
२७	८	रगादय	रागादय
२७	९	रगादिविरहे	रागादिविरहे
२७	२०	करुणावन्तो	करुणावन्तो
२८	१	प्रवत्ति	प्रवृत्ति·
२८	१३	समर्थो	समर्थो
३१	१०	विनाशनाय	विनाशनाय
३२	१४	गृहण	गृहाण
४१	१८	वधारणे	वधारणे
४२	६	अश्रिता.	आश्रिता.
४३	५	ज्ञनिना	ज्ञानिना
४२	१७	सर्वे	सर्वे
४७	२	वय	वयं
४९	५	सम्यद्धैव	सम्यद्धैव
५०	५	सिद्धान्तम्	सिद्धान्तम्
५०	८	सम्बुद्धम्	सम्बुद्धम्
५२	९	विरुद्वा	विरुद्धा
५२	१४	पुवेति	पुवेति
५३	७	मित्यगा	मित्यागा
५७	१२	वोध्यम्	बोध्यम्
५७	१२	तदश	तादृश
६०	१	घटित्वादिकं	घटत्वादिकं

६०	१६	श्रिशेषश्च	विशेषश्च
६१	३	आन्योम	आव्योम
६२	१	व्यये	˜यये
६२	४	म्यात्	स्यात्
६३	१	भेद्रित्वाद्वेतो	भेद्रित्वाद्वेतो
६४	१	स्ववश	स्ववश
६४	८	असहायो	असहायो
६८	९	वच्यम्	वाच्यम्
७२	७	पदा त्व	पदार्थतत्त्व
७२	८	कुयन्ती ना	कुयन्तीत्यज्ञाना
७२	९	चैतन्य	चैत˜यस्य
७२	११	दा मनश्च	दात्मनश्च
७३	१४	विपये	विषये
७४	१७	व्याख्या	˜याख्या
७५	६	हिंसाया	हिंसाया
७७	१	परेभ्यो	परेभ्यो
७७	३	क्षमम्	क्षम
७८	२०	श्रते	श्रुते
८०	३	तृष्णो द्र	तृष्णो˜द्र
८०	४	ण्यकरो	ण्यकारा
८३	९	ब˜ध	ब ध
९१	५	समुच्चये	समुच्चये
९२	१८	अकारे	आकारे
९३	२	परभिप्रायो	पराभिप्रायो
९३	१०	प्रराभिप्राय	पराभिप्राय
९९	१३	सप्तभङ्गीसमुच्चय	सप्तभङ्गीप्रकरण ।
१०५-६-७	३, १५, ४-५-६-१०	दुर्नीति, दर्शी	दुर्नीति, दर्शी

१०८	३	क्लीव	क्लीव
१०९	१९	परिमितन्वे	परिमितत्वे
११२	३	कार्यांशुद्धेः	कार्यशुद्धेः
११२	१०	वग्वैभवं	वाग्वैभवं
११३	१	घाग	वाग्
११४	१५	परैरप्यितत्वे	परैरप्यतत्त्वे
११८	१४	वच्चा	वच्चा
११९	१७	वरना	करना
१२३	१०	अप्रामकाणि	अप्रामाणिक
१३०	८	लिय	लिये
१३२	१९	हते	होते
१३२	२०	धारण	धारणा
१३९	२	मामन्य	सामान्य
२५७	९	पितूत्व	पितृत्व

त्रुटितग्रन्थाऽनुसन्धानम् ।

द्वादशपृष्ठे पञ्चमपङ्क्तौ—प्रलम्भमित्य विवरणे प्रलम्भो यथा स्यात्तथा व्यवस्यन्निति क्रियाविशेषणमिदम् । नित्य लभमाना इति यावदित्येवं पाठो बोध्यः ।

सप्तत्रिंशत्तमपृष्ठेऽष्टमपङ्क्तौ 'च' इत्यस्य पूर्वम्—लोभेन, यज्ञादौ बल्यादिग्रहणेनेष्टप्रदत्वस्य तेषां पुराणादौ वर्णनादिति भावः । सम्मर्देन= हर्षेण, विपयाऽऽसेवनजनितेनेति भावः । उपलक्षणत्वाच्छोकेनेत्यपि बोध्यम् । विपयाऽऽसेवया हृष्टस्य तद्वियोगे शोकस्याऽप्यवश्यं भावादिति भाव इत्यधिकः पाठो बोध्यः ।

चतुरधिकशततमे पृष्ठे—समा इत्यस्याऽनन्तरं—तुल्याः । समे इति पाठे तु सर्वे इत्यर्थ. । दोपा इति परामृश्यते ।—इत्येवं पाठो बोध्यः ।

॥ अर्हम् ॥

श्री नियनेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

॥ अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिः ॥
॥ कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता ॥

प्रसादमासाद्य यदीयमागमान्तमोनुदोऽगुर्मिहिरा निरावाऽऽत्मना ।
गणेन्द्रवर्यो प्रणिधीयमानमय जिनो भवोपारतरीगिरांपतिं ॥१॥

अयोगाऽयोग-व्यवच्छेदिकाद्वात्रिंशिका येन भूपेन्द्रवन्द्रेण गीता ।
समीरान्तनागाऽपहाराऽपहारो मुनीन्द्रं तकं हेमचन्द्रं प्रणये ॥२॥

जनैस्तीर्थो सूनिनिवरीधि श्रान्यापूर्णकमलक्ष्मिमूर्तिर् ।
नेमिं निरागाऽष्टसनुल्यानिप गच्छस्य गतिभगवनामि ॥३॥

विज्ञानसूरिं प्रभुं गुरूणां रत्नत्रयाणामिव सद्गुणानाम् ।
रत्नाकरं शान्ततनुं विधिना योगानि पुण्यदाभ्यर्णां ॥४॥

आद्य दर्शनप्रभुतो विबुधेन्द्रो ध्रुवे च मनिगुरु स्याम्याम्न्या
प्राट्नमनाः गुरुगिरं श्रीकस्तूरसूरिमोदर्शिन स्तौमि ॥५

जिनमुनिचन्द्रेणाऽर्चित मस्तं स्तुत ।
कीर्तिं कीर्तिचन्द्रोऽहं व्याख्यां कीर्तिकलाभिधाम् ॥६॥

तत्र भगवता पुण्यश्लोकेन कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्येण ख्यातनामश्रीसिद्धसेनदिवाकरविनिर्मितद्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाऽनुसारि श्रीवीरजिनस्तवनरूपमयोगव्यवच्छेदाऽन्ययोगव्यवच्छेदनामधेयं द्वात्रिंशिकाद्वयमुज्जगे ।

तत्राऽयोगव्यवच्छेदो नाम=अयोगो विशेष्ये विशेषणस्याऽसम्बन्धः, तस्य व्यवच्छेदो निराकरणम् । विशेष्ये विशेषणसम्बन्धाऽवधारणमिति यावत् । सचाऽयोगव्यवच्छेदो विशेषणसम्बद्धैवकारेण प्रतिपाद्यते । यथा–'शङ्खः पाण्डुरेव' । अत्र विशेष्ये शङ्खे 'पाण्डुर एवेति' पाण्डुररूपविशेषणसम्बद्धैवकारेण पण्डुरत्वस्य=श्वेतत्वस्याऽसम्बन्धो निराक्रियते । शङ्खेऽश्वेतत्वं निराक्रियत इति यावत् । तथा जिनेश्वरे आप्तत्वमेव, न कदापि कुतोऽप्यनाप्तत्वमिति मनसिकृत्य–अयोगो व्यवच्छिद्यते=जिनेश्वरे आप्तत्वस्याऽसम्बधो निराक्रियते=जिनेश्वर आप्त एवेति प्रतिपाद्यते यया साऽयोगव्यवच्छेदा । करणे घञ् । द्वात्रिंशच्छ्लोकसङ्ख्यापरिमाणमस्या इति सा द्वात्रिंशिका । अयोगव्यवच्छेदा चाऽसौ द्वात्रिंशिका, च साऽयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, तदाख्या स्तुतिः ।

तां निबध्नन्नाह:—

अगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं,

वचस्विनामक्षवतां परोक्षम् ।

श्रीवर्धमानाऽभिधमात्मरूप-
मह स्तुतेर्गोचरमानयामि ॥१॥

अन्वय.—अध्यात्मविदाम् अगम्य वचस्विनाम् अवाच्यम् अक्षवता परोक्ष श्रीवर्धमानाऽभिधम् आत्मरूपम् अह—स्तुते गोचरम् आनयामि ॥१॥

व्याख्या —अध्यात्मविदाम्=आत्मनीत्यध्यात्मम्, तद्विदन्तीति ते, आत्मज्ञानिन । मनोयोगवन्त इत्यर्थ । मन पर्ययिण इति यावत् । तेन केवलिना सर्वज्ञत्वेऽपि न क्षतिरित्यवधेयम् । -तेषाम्—योगिनामिति सारार्थ । अपीत्यर्थबलाल्लभ्यते । अगम्यम्=अप्राप्यम्, अज्ञेयमित्यर्थ । निर्गुणत्वान्मनोऽतीतत्वाज्ज्ञानातीतमिति तात्पर्यम्, सगुण एव हि मनोविषय । यो ह्यध्यात्मविदामगम्य, सोऽन्यस्याऽगम्य इति किमु वक्तव्यमिति भाव । अत्राऽऽत्मरूपमिति विशेष्य सर्वत्र द्वितीयान्तेषु नेयम् । वचस्विनाम्=प्रशस्तवचसाम्, उक्तिचतुराणा कवीनामपीत्यर्थ । अवाच्यम्=अवर्णनीयम्, सगुणस्यैव वाच्यत्वादिति भाव । तदेव वाग्योगाऽतीतत्वमुक्तम् । अथेन्द्रियाऽतीतत्वमाह—अक्षवताम्=प्रशस्तेन्द्रियाणामपि, परोक्षम्=अप्रत्यक्षम्, निर्गुणत्वादेवेति बोध्यम् । सगुणपर्यायाऽपेक्षयाऽऽह—श्रीवर्धमानाऽभिधम्=श्रिया युक्तश्चाऽसौ वर्धमानेत्यभिधा नाम यस्य स, तादृगस्तम्, वर्धमाननामानमित्यर्थ । अत्र चोभङ्ग्याऽगम्यत्वादौ हेतुरप्युक्त । यो हि कीर्त्यादिभिरनुसमय वृद्धिविषयश्च तस्य कथ

गम्यत्वादि, प्रतिक्षणं विलक्षणत्वादिति ध्येयम् । वार्धपीष्ट्या-शिष्यानश् । वर्धमाननामा कश्चिदात्माऽचेतनो वेत्याशङ्कानिवृत्तये आह-**आत्मरूपम्**=आत्मनो रूपम् विशेषम्, आत्मविशेषमित्यर्थः । प्रशस्तमात्मानमिति वा । प्राशस्त्ये रूपप् । परमात्मानमिति यावत् । **अहम्**=श्रीहेमचन्द्राचार्यः । **स्तुतेः**=गुणकीर्त्तनस्य, **गोचरम्**=विषयम्, **आनयामि**=प्रापयामि, करोमीत्यर्थः । निर्गुण संस्तादृशामविषयोऽपि सगुणः कथञ्चित्स्तोतव्य एव । स एव मयाऽल्पमतिना स्तूयते इत्यहमित्येकवचनेन सूच्यते । अत्र प्रान्ते श्लेकद्वयं मुक्त्वा सर्वत्रोपजातिश्छन्दः । एतादृश आप्त एव भवितुमर्हतीति सोऽवश्यस्तोतव्यो भवतीति श्लोकहृदयम् ॥१॥

ननु तादृशे तवाल्पज्ञस्य शुश्रूषाऽननुरूपेति चेन्महतोऽपि सा तथैवेति सा न मम दोषायेत्याह:—

स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न किम् ?
गुणाऽनुरागस्तु ममाऽपि निश्चलः ।
इदं विनिश्चित्य तव स्तवं वदन्
न बालिशोऽप्येष जनोऽपराध्यति ॥२॥

अन्वयः—तव स्तुतौ योगिनाम् अशक्तिः किं न ?, गुणाऽनुरागः तु मम अपि निश्चलः । इदं विनिश्चित्य तव स्तवं वदन् बालिशः अपि एष जनः न अपराध्यति ॥२॥

व्याख्या —तव=निर्गुणस्य मुक्तस्य जिनेश्वरस्य, स्तुतौ=गुणकीर्तनविधौ, योगिनाम्=योगत्रयवतामपि, अशक्ति=असामर्थ्यम्, किन=नाऽस्ति किम्?, अपि त्वस्त्येव । गुणद्वारा हि कोऽपि स्तूयते । तव च तस्यैवाऽभावात् कथ कस्याऽपि तव स्तुतौ सामर्थ्यं भवेदिति भाव । ननु योगिभि गुणानुरागात्सगुण एव स कथञ्चित्स्तूयते इति चेन्ममाऽपि तस्मादेव, तथाप्रवृत्तिरित्याह गुणानुरागः=गुणेषु, जगदुपकर्तृत्वादिरूपेषु अनुराग प्रीत्यतिशय, तुः साम्ये, यथा योगिना तथेत्यर्थ । मम=हेमचन्द्रस्य, अपिना योगिसमुच्चय । निश्चल=ध्रुव, सम्यक्त्वनत्त्वादिति भाव । इदम्=स्थिरगुणाऽनुरागस्यैव स्तुतिहेतुत्वम्, विनिश्चित्य=विचार्य, तव=जिनेश्वरस्य, स्तवम्=स्तुतिम्, वदन्=कुर्वन् बालिश=अल्पन, अपिमहत समुच्चये । यथा महतो नापराधस्तथेत्यर्थ । एष= प्रस्तुत स्तोता, जनः=व्यक्ति, नाऽपराध्यति=नाऽनिष्टमप्रियमनुचित वाऽऽचरतीत्यर्थ । अशक्तेरुभयत्र तौल्ये गुणाऽनुरागात्प्रवृत्तेरेकत्राऽ दोषत्वेऽन्यत्राऽप्यदोषत्वम्, दोषस्य मुखप्रेक्षिकयाऽप्रवृत्तेरिति भाव ॥२

ननु भवतु गुणाऽनुरागस्तवाऽपि, निन्त्वल्पनतया त्वत्कर्तृकस्तुतौ त्रुटि सम्भाव्यते इति चेन्महाजनाऽनुसरणस्येष्टतया तत्र त्रुटेरकिञ्चित्करत्वादित्याह—

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था
अशिक्षिताऽऽलापकला क्व चैषा ॥

तथाऽपि यूथाऽधिपतेः पथस्थः
स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न वाच्यः ॥३॥

अन्वयः—महार्थाः सिद्धसेनस्तुतयः क्व, एषा अशिक्षिताऽऽलापकला च क्व। तथाऽपि यूथाऽधिपतेः पथस्थः तस्य शिशुः स्खलद्गतिः न वाच्यः ॥३॥

व्याख्याः—महार्थाः=महान् सारवान् अर्थः प्रतिपाद्यो यासु ताः, अत्युत्कृष्टार्था इत्यर्थः। सिद्धसेनस्तुतयः=सुशिक्षितसिद्धसेनाख्यमहामुनिविरचितस्तुतयः। उपलक्षणत्वात्तादृशाऽन्यमुनिकर्तृकस्तुतयश्च। क्व=कुत्र, एषा=प्रस्तुता, अशिक्षिताऽऽलापकला=अशिक्षितस्य तादृगशिक्षाविहीनस्य मम आलापकला आभाषणलेशो वाक्चातुरी वा, चः=समुच्चये। क्व=कुत्र। द्वयोर्महदन्तरम्, सुशिक्षिताऽशिक्षिताऽन्तरवदिति भावः। यद्यप्येवम्, तथाऽपि=तादृशाऽन्तरसद्भावेऽपि, यूथाऽधिपतेः=हस्तिसमूहमुख्यस्य गजेन्द्रस्य, पथस्थः=मार्गमध्याश्रितः, तमनुसरन्निति यावत्। तस्य=यूथाऽधिपतेः, शिशुः=कलभः, स्खलद्गतिः=बालत्वेन तादृशशक्तिपाटवाद्यभावाद् गतिविकलोऽपि, न=नैव, वाच्यः=उपालभ्यः, महदनुसरणेऽशक्तस्य त्रुटिः क्षन्तव्यैव, नतूपालभ्या। तथा महदनुसारित्वान्ममाऽपि प्रवृत्तिर्न दोषायाऽशक्त्या विकलाऽपि, शुभाऽध्यवसायप्रवृत्तत्वादिति भावः ॥३॥

नन्वन्यतीर्थनाथा अपि गुणिन इति ते किमिति न स्तूयन्ते इतिचेद्दोषस्पृष्टत्वादेवेति गर्हणेत्याह—

जिनेन्द्र ! यानेव विबाधसे स्म–
दुरन्तदोपान् विविधैरुपायैः ।
तव एव चित्र त्वदसूययेव
कृताः कृतार्थाः परतीर्थनाथै ॥४॥

अन्वय —जिनेन्द्र ! यान् एव दुरन्तदोपान् विविधैः उपायैः विबाधसे स्म। चित्रम्, परतीर्थनाथैः त्वदसूययेव त एव कृतार्था कृता ॥४॥

व्याख्या —जिनेन्द्र !=वीतरागमुख्य !, एतेन दोषाऽभाव उक्त, तत्र भङ्ग्या हेतुमाह–यान्=हिंसाऽनृतादीन्, दुरन्तदोपान्=दुरन्तान् दुष्परिणामान्, दोपान्, दूषणानि, श्रेयसस्तत्त्वबोधस्य च प्रतिपन्थित्वादिति भाव । यानेव तएवेत्युभयत्रैवकारो यत्पदतत्पदग्राह्ययोरत्यन्ताऽभेदसूचनाय । विविधै =अनेकप्रकारै, उपायैः=चारित्रादिरूपै साधनै, दोपहेतुत्वादुपायस्याऽपि बहुत्वमिति भाव । विबाधसे स्म=दूरीकृतवान्, ननु यानितिकिमित्यत आह–चित्रम्=आश्चर्यमेतद्यत्, परतीर्थनाथै= परैरतीर्थप्रवर्तकै विष्णवादिभि, त्वदसूयया=त्वदुत्कर्षाऽसहिष्णुतयेव, त एव=त्वया बाधिता एव दोषा, कृतार्थाः=तद्दोषपरिग्रहेण दूषणाद्दोषा इत्येव स्वत दोषवद्भि सद्भिस्ते कृत सिद्धोऽर्थ प्रयोजन येषा–तादृशा, फलवन्त इत्यर्थ । कृता,=विहिता, दूषणाद्धि दोषा फलवन्त, अन्यथा ते दोषा एव न स्यु । परे च दोषै दूषिता, तेऽपि च परे विरोधान्वि त्वत्ताश्रयन्ति, द्वयोर्विरोधिनोरेकतरेण बाधितमन्यो रक्षत्यसूययेति

लोकप्रसिद्धम् । विष्ण्वादयो हि छलादिनाऽसुरादिहिंसका निग्रहा-ऽनुग्रहपराश्च कोपप्रसादादिना परशास्त्रेषु प्रसिद्धाः । त्वन्तु वितराग इति त्वमेव दोषरहितत्वात्स्तोतव्यो न तु परे, दुष्ट-त्वादिति त्वमाप्तएवेति मिलितार्थः । अहो विवेकलुण्टाकी मात्सर्या-न्धतेति भावः ॥४॥

ननु सन्ति निष्परिग्रहा अपि कतिपये परे इति तेऽपि कथं न स्तोतव्या इति चेत्ते त्वसदुपदेशकत्वाद् दूरत एव नमस्करणीया इत्याह—

यथास्थितं वस्तु दिशन्नधीश !
न तादृशं कौशलमाश्रितोऽसि ।
तुरङ्गशृङ्गाण्युपपादयद्भ्यो
नमः परेभ्यो नवपण्डितेभ्यः ॥५॥

अन्वयः—अधीश ! यथास्थितं वस्तु दिशन् तादृशं कौशलं न आश्रितः असि, तुरङ्गशृङ्गाणि उपपादयद्भ्यः नवपण्डितेभ्यः परेभ्यः नमः ॥५॥

व्याख्याः—अधीश !=स्वामिन् !,दोषरहितत्वेनाऽन्येभ्योऽधिको विशिष्ट ईशः शासकः, तत्सम्बोधने । यथास्थितम्=स्थितमनतिक्रम्य, अनन्तधर्मात्मकमिति हृदयम् । वस्तु=पदार्थम्, दिशन्=उपदिशन्, प्रतिपादयन् वा । वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वञ्चाऽन्ययोगव्यवच्छे-दिकायामुपपादयिष्यते । तादृशम्=परतीर्थिकसदृसम्, कौशलम्=

वस्तुप्रतिपादननैपुण्यम्, नाऽऽश्रितोऽसि=नाऽङ्गीकृतोऽसि, परतीर्थिककौशलशून्योऽसीत्यर्थः । वस्तु यथाऽस्ति, तथा प्रतिपादने किं कौशलम् ?, वस्तुन एव तथास्थितत्वात् । अधिकप्रतिपादने तु कौशलमुपयुज्यते, यत —तुरङ्गशृङ्गाणि=तुरङ्गशृङ्गवदसन्ति वस्तूनि, तुरङ्गस्याऽश्वस्य हि न शृङ्गाणि भवन्ति, ततश्च तत्प्रतिपादनं न यथास्थितवस्तुप्रतिपादनम् । तुरङ्गस्य शृङ्गं नास्तीत्येव प्रतिपादनं च तथाप्रत्यक्षतया सुकरम् । तुरङ्गः शृङ्गवानित्येव प्रतिपादनं तु तथास्थितवस्त्वभावात्कौशलमपेक्षते, तथा वस्त्वनेकान्तात्मकमित्येव प्रतिपादनं सुकरम् तथा प्रत्यक्षोपलम्भात्, एकान्तात्मकं तु वस्तु नास्ति, प्रत्यक्षादिना तथाऽनुपलम्भात् । असद्धर्मपुरस्कारेण प्रतिपादनं च तुरङ्गशृङ्गप्रतिपादनमेवेत्यतस्तानि, उपपादयद्भ्यः=विशद्भ्यः, परेभ्यः=त्वदन्येभ्यः, नवपण्डितेभ्यः=असद्वस्तुप्रतिपादनकौशलवद्भ्यो विलक्षणविद्वद्भ्यः, एकान्तवादिभ्यः शङ्करप्रभृतिभ्य इति यावत् । नमः=नमस्कारोऽस्तु । अधिककौशलवान् नमस्करणीयो भवतीति भाव । भवानेव यथास्थितवस्तु वक्ता, न त्वन्ये, तथाज्ञानाऽभावात्, ज्ञानवचनयोश्च कार्यकारणभावात् । तस्मात्तेऽज्ञा असदभिनिवेशवन्तो नमस्करणीया एव, नतु तेभ्यः श्रोतव्यम्, तेऽनुसरणीया वेत्युपहासोऽभिप्राय ॥७॥

ननु कृपालुतया ख्यातः सुगत एव तदनुसारिभिरिव स्तूयताम्, कः आग्रहो जिन एव स्तोतव्य इतिचेदस्तुतः स कृपालुरेव गाम्भीर्यत सोऽप्यनाश्रयणीय एवेत्याह— ।।

जगत्यनुध्यानवलेन शश्वत्-
कृतार्थयत्सु प्रसभं भवत्सु ।
किमाश्रितोऽन्यैः शरणं त्वदन्यः
स्वमांसदनेन वृथा कृपालुः ॥६॥

अन्वयः—अनुध्यानवलेन जगन्ति प्रसभं शश्वत् कृतार्थयत्सु भवत्सु अन्यैः त्वदन्यः स्वमांसदानेन वृथाकृपालुः शरणं किमाश्रितः ? ॥६॥

व्याख्या— **अनुध्यानवलेन** =केवलित्वात्प्रत्यक्षतोऽवलोकनवशात्, **जगन्ति**= भुवनानि, उपलक्षणत्वात्तत्र स्थितान् सूक्ष्मान् बादरांश्च जन्तून्, नतु पर इव बादरानेव कांश्चिदिति भावः । **प्रसभम्**= आग्रहपूर्वकं यथास्यात्तथा, एतेनाऽकारणवत्सलत्वं सूचितम् । **शश्वत्**=सदा, नतु पर इव यदाकदाचिदेवेति भावः । **कृतार्थयत्सु**= कृतः सम्पादितोऽर्थः प्रयोजनं येषा तानि तादृशानि, तानि कुर्वत्सु, सिद्धप्रयोजनानि कुर्वत्स्वित्यर्थः । चरित्रादिसदुपदेशादिनेति भावः । जीवस्य हि जीवनमर्थः, स च साकल्येन ज्ञातः सर्वविरत्याद्युपदेशादिना सूक्ष्मो बादरश्च सर्व एव संरक्ष्यते इति स कृतार्थः क्रियते भवद्भिः, ततस्तादृशेपु, **भवत्सु**=पूज्येपु सर्वहितेपु जिनेश्वरेषु वर्तमानेष्वपि, **अन्यैः**=परतीर्थाऽनुसारिभिः, सौगतैरिति हृदयम् । **त्वदन्यः**=भवद्भ्यो जिनेश्वरेभ्योऽतिरिक्तः, अत्र त्वदित्यव्ययम्, अतो न बहुवचनान्तेन भवत्स्वित्यनेनाऽसम्बन्ध इति बोध्यम् । **स्वमांसदानेन**=निजमासवितरणेन कृत्वा, जीवरक्षणाय व्याघ्र्यै

कस्याऽपि सौगतस्य स्वमामदानकथाऽत्राऽनुसन्धेया । वृथा=निर्हेतुक; यथा स्यात्तथा; कृपालु'=दयालुतया, ख्यात', शरणम्=रक्षक, उपदेशाग्निनेति भाव । "शरण गृहरक्षित्रोरि" त्यमर । किम् आश्रितः ?=मुनो हेतोराश्रित इति प्रश्न । न दयालुत्व तद्धेतु, तस्य वैयर्थ्यात्, तथादयालुत्वस्य कादाचित्कत्वाच्च । वृथात्व च दयालुत्वस्य नादररक्षणे सूक्ष्मोपेक्षणमेव । स्वमासे हि सन्तो बहव सूक्ष्मा जीवा नाशिता इत्यनेकनाशनेनैकरक्षण यदाकाचित्त दयालुना, किन्तु सर्वदा सर्वरक्षणमेव । तथाकरण च तस्य सूक्ष्माऽज्ञानमूलमिति स न ज्ञानी नाऽपि दयालुरिति तस्य शरणतयाऽऽश्रयणे न कोऽपि हेतु । भवन्तस्तु सर्वज्ञा सर्वदा सर्वरक्षकाश्चेति भवन्त एवाऽऽश्रीयन्ते इति भाव ॥६॥

ननु तर्हि सर्वे ते जिनमेव मुनो नाऽऽश्रयन्ति, प्रत्युत दूषयन्त्येवेति चेन्मूर्यैवेत्याह—

स्वय कुमार्गं लपतो नु नाम
प्रलम्भमन्यानपि लम्भयन्ति ।
सुमार्गग तद्विदमादिशन्त-
मसूययाऽन्धा अवमन्वते च ॥७॥

अन्वय — असूयया अन्धा स्वय कुमार्गं प्रलम्भ नु नाम लपनोऽन्यानपि लम्भयन्ति । तद्विद सुमार्गग आदिशन्तम् अवमन्वते च ॥७॥

व्याख्या —**असूयया**=गुणेष्वपि दोषारोपहेतुना, तत्र चाऽज्ञानमेव हेतुरित्यतः, **अन्धाः**=नेत्रहीनवद्धेयोपादेयमार्गमनवलोकयन्तः, **स्वयम्**=आत्मना, **कुमार्गम्**=कुत्सितं मार्गम्, कण्टककूपादिभिर्यथार्थज्ञानाऽभावहेतुकभवाऽनन्त्यप्राप्त्यादिभिश्च साऽपायत्वाद्दुष्टं मार्गमित्यर्थः । **प्रलम्भम्**=नित्यं लभमानाः, **नु नामेति**=साऽभिनयखेदे, **लपतः**=अज्ञत्वात्पृच्छतः, **अन्यान्**=स्वेतरान्, **अपिः**=स्वसमुच्चये, **लम्भयन्ति**=प्रापयन्ति, कुमार्गमित्यनुषज्यते । अन्धो ह्यनवलोकनाद्धेतोः स्वयं कुमार्गं गच्छति, पृच्छतश्च स्वगतमार्गमेवोपदिशन् तानपि तत्रैव गमयतीति परेऽपि स्वयं कुमार्गमेकान्तं श्रिता अन्यानपि तथैवोपदिशन्तीति ते कथं नाम परिचयं विनैव जिनमाश्रयन्तु ?, ननु तर्हि जिनेन स्वयमेव तदनुसारिभि र्भवद्भि र्वा ते उपदेष्टव्या इति चेत्तत्राह—**तद्विदम्**=सुमार्गज्ञम्, न तद्विदेव, किन्तु तज्गोऽपीत्याह—**सुमार्गगम्**=सन्मार्गगमनमनुतिष्ठन्तम्, एतेन न परवत्परोपदेशपाण्डित्यमात्रं जिनस्य, किन्तु स्वयं तथाऽनुष्ठानमपीति वचःकर्मणोरैक्यं तस्येति सूचितम् । **आदिशन्तम्**=उपदिशन्तम्, अर्थात्सन्मार्गमेवेति बोध्यम् । दयलुतया लोकहितायेति भावः । **अवमन्वते**=नाऽऽद्रियन्ते, उपेक्षन्ते दूषयन्ति चेत्यर्थः । अत्राऽपि हेतुरसूययाऽन्धत्वमेव, गुणेषु दोषारोपस्वभावतया, को मत्तोऽधिको वेत्ता ?, यो मद्विरुद्धमुपदिशतीतीत्थमसहिष्णुतया स्वाऽन्धत्वाऽज्ञानविजृम्भमाणयेति चार्थः । अज्ञानिनोऽसूयिनश्च दुर्बोधाः, "ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि नरं न रञ्जयती" ति भावः ॥७॥

ननु यदि नाम जिनशासनस्याऽसमानसम्भवस्तर्हि न तदा-श्रयणीयमित्यतोऽन्येस्तदवमानाऽसम्भवं सहेतुकं प्रतिपादयन्नाह—

प्रादेशिकेभ्यः परशासनेभ्यः
पराजयो यत्तव शासनस्य ।
खद्योतपोतद्युतिडम्बरेभ्यो
विडम्बनेयं हरिमण्डलस्य ॥८॥

अन्वय—प्रादेशिकेभ्यः परशासनेभ्यः तव शासनस्य पराजयः यत्, इयं खद्योतपोतद्युतिडम्बरेभ्यः हरिमण्डलस्य विडम्बना ॥८॥

व्याख्या—प्रादेशिकेभ्यः=प्रदेशेषु भवा प्रादेशिका अल्पदेश-प्रकाशका, तेभ्य इव, नित्याऽनित्यत्वादिरूपवस्त्वेकांशमात्रप्रतिपादक-त्वात्तत्तुल्येभ्यः, परशासनेभ्यः=परेषां बुद्धकपिलादीनां शासनेभ्यः एकान्तरूपवस्त्वंशमात्रप्रतिपादकप्रवचनेभ्यः सकाशात् । तव=सर्वज्ञस्य जिनस्य, शासनस्य=नित्याऽनित्यत्वादिरूपवस्तुसर्वांशप्रतिपादक—प्रवचनस्य, यथास्थिताऽनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकस्याद्वादशास्त्रस्येति यावत् । पराजयः=अवमानना, निराकरणमभिभवो वा । यत्= यदि सम्भाव्यते, इयम्=एतादृशी सम्भावना, विडम्बना वा । खद्योतपोतद्युतिडम्बरेभ्यः=खद्योतो रात्रौ प्रकाशकः क्षुद्रकीटविशेषः, तस्य पोतः शावः, तस्य द्युतेः प्रकाशस्य डम्बरेभ्यः आटोपेभ्यः, हरिमण्डलस्य=सूर्यबिम्बस्य, विडम्बना=अभिभवः । यथा खद्योतेन जगत्प्रदेशमात्रप्रकाशकेन सर्वजगत्प्रकाशकस्य सूर्यबिम्बस्याऽभिभवोऽ-

सम्भवदुक्तिकस्तथा वस्त्वेकांशमात्रप्रतिपादकशासनेभ्यो वस्तुसकलांश-प्रतिपादकजिनशासनस्य पराजयोऽप्यसम्भवदुक्तिक एव । नहि हीनेनाऽधिकोऽभिभूयतेऽपि त्वधिकेन हीन इति भावः ॥८॥

ननु सर्वैव गोपालिका स्वं स्वं दधि मधुरं कथयति, तेन किम्?, अन्येषां तु तत्र संशयो विप्रतिपत्तिर्वा भवत्येव । तथा जिनशासनेऽपि परेषां तदिति चेन्न । प्रमाणपवित्रत्वात्तत्र-तथासंशयादेरयुक्तत्वादित्याह—

शरण्यः ! पुण्ये तव शासनेऽपि
सन्देग्धि यो विप्रतिपद्यते वा ।
स्वादौ स तथ्ये स्वहिते च पथ्ये
सन्देग्धि वा विप्रतिपद्यते वा ॥९॥

अन्वयः—शरण्य ! तव पुण्ये तथ्ये शासनेऽपि यः सन्दिग्धे विप्रतिपद्यते वा, स स्वादौ स्वहिते च पथ्ये सन्देग्धि वा विप्रतिपद्यते वा ॥९॥

व्याख्या—शरण्य !=शरणे रक्षणे साधुः शरण्यः, तत्सम्बोधने, शरणद इत्यर्थः । तव=जिनस्य सर्वज्ञस्य सर्वहितस्यच । पुण्ये=प्रत्यक्षादिप्रमाणाऽनुगृहीतत्वान्निर्दुष्टत्वात्पवित्रे, अत एव, तथ्ये=यथार्थे, यथार्थप्रतिपादनादिति भावः । शासने=प्रवचने स्याद्वादरूपे, अपिर्विस्मये, तथ्येऽपि सन्देहादि विस्मयकरमिति भावः । यः=

परतीर्थिकः; सन्देग्धि=इदमित्थं नवेति संशयं करोति, वा=अथवा, विप्रतिपद्यते=इदमित्थमन्यथा वेत्यनिश्चयमाश्रयति, सः=तादृशः संशयिता विप्रतिपत्ता वा, स्वादौ=प्रत्यक्षाद्यनुभवसाक्षिकत्वाद्रुचिकरे, स्वहिते=रोगोपशमकतया शरीराग्निपोषकतया च हितकरे, च=स्वादुसमुच्चायकः। पथ्ये=पथि साधावन्नादौ, उपलक्षणतया-ऽस्वाम्याऽविरोध्याहारे, सन्देग्धि वा विप्रतिपद्यते वा। वाद्वय समुच्चये। सन्देग्धि विप्रतिपद्यते चेत्यर्थः। यथा स्वादौ हिते च पथ्ये संशयो विप्रतिपत्तिर्वा पथ्यत्यागाऽपथ्यस्वीकाराभ्यामनर्थाय, तथा प्रामाणिके यथार्थे तव शासने संशयविप्रतिपत्ती स्वच्छाशनत्यागाऽप्रामाणिकाऽयथार्थशासनस्वीकारफलकतयाऽनर्थपरम्पराया एव। तव शासने संशयादिरप्रामाणिकः, अत एवाऽनवसरग्रस्त इति भावः ॥९॥

ननु सर्वजिनशासनमेवाऽनुसरणीयमिति न राजाज्ञा, किन्तु परोऽपि जिनाऽऽगमं पुण्यं पथ्यं चाऽऽम्नातीति चेदाश्रीयतां नाम परशासनम्, किमत्र निषेधो लोके। किन्तु तदप्रमाणमित्येतावन्मात्रं ब्रूमः —इत्याह—

हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशादसर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः।
नृशंसदुर्बुद्धिपरिग्रहाच्च ब्रूमस्त्वदन्याऽऽगममप्रमाणम् ॥१०॥

अन्वयः—त्वदन्याऽऽगमम् अप्रमाणं ब्रूमः, हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशात्, असर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः, नृशंसदुर्बुद्धिपरिग्रहाच्च ॥१०॥

व्याख्या—**त्वदन्याऽऽगमम्**=त्वत्तो जिनादन्यस्यैकान्तवादिन आगमं शासनम्, **अप्रमाणम्**=प्रमाणशून्यम्, **ब्रूमः**=प्रतिपादयामः, न केवलमहमेव, किन्तु वहव इति वहुवचनेन सूचितम्। तत्र हेतुमाह **हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशात्**=हिंसादिरूपाणामसत्कर्मणां भवाऽनु–वन्धितया हेयाऽनुष्ठानानां पथो मार्गस्य "श्वेतं वायव्यं पशुमालभेत भूतिकामः" "श्येनेनाऽभिचरन् यजेते" त्यादिना पश्वादिहिंसा–साध्यभवपरम्पराऽनुवन्धियज्ञादिरूपस्योपदेशाच्छासनात्। ननु तत्र यदेव सत्तदेव ग्राह्यमिति चेदल्पज्ञोपदिष्टत्वेन तत्र सत एवाऽ–सम्भवादित्याह—**असर्वविन्मूलतया**=न सर्वं वेत्तीत्यसर्वविदसर्वज्ञो मूलमुपदेष्टा प्राथम्येन यस्य स तथा, तस्य भावोऽसर्वविन्मूलता, तया कृत्वा, **प्रवृत्तेः**=आत्मलाभात्, वेदस्याऽपौरुषेयत्वेन स्वीकारादसर्वविन्मूलता, अन्येषा च सर्वज्ञप्रणीतत्वाऽसिद्धेश्चेति भावः। ननु सद्भिरुपभु–ज्यमाने स्वाद्वाम्रफले केन तद्वृक्षो रोपित इत्यचिन्तनीयमिति चेत्त–त्राह—**नृशंसदुर्बुद्धिपरिग्रहात्**=नृशंसा घातुकाः, "नृशंसो घातुकः क्रूर" इत्यमरः। दुर्बुद्धयो हेये यज्ञादावुपादेयवुद्धिसत्त्वाद्धिताऽ–हितविवेकाऽपटवश्च तैस्तादृशैः परिग्रहात्स्वीकारद्धेतोः, चो हेतुत्रय–समुच्चये। हिंसादिविरतैः श्रेयोऽर्थिभिस्तदस्वीकारादिति हृदयम्। यद्धि प्रमाणं तत्सत्कर्मोपदेशकं सर्वज्ञमूलतया प्रवृत्तं सत्परिगृहीतं च भवति, न च परशासनं तथा, तस्मादप्रमाणमित्यर्थः। एवञ्चा–ऽनुपादेयमेव तदिति भावः ॥१०॥

सम्प्रत्यन्यवैलक्षण्येन जिनशासनं प्रमाणमित्याह—

हितोपदेशात्सकलज्ञक्लृप्ते र्मुमुक्षुसत्साधुपरिग्रहाच्च ।
पूर्वाऽपरार्थेष्वविरोधसिद्धेस्त्वदागमा एव सता प्रमाणम्॥११

अन्वय —हितोपदेशात् सकलज्ञक्लृप्ते मुमुक्षुसत्साधुपरिग्रहात् पूर्वाऽ-पराथेंषु अविरोधसिद्धेश्च सता त्वदागमा एव प्रमाणम् ॥११॥

व्याख्या—हितोपदेशात्=हितस्य कर्मबन्धादेर्दोपस्याऽप्रयोजकतया तन्निरासकतया च भवात्मकदुर्माच्यरोगोच्छेदकत्वादवश्योपादेयतया पथ्यस्याऽहिंसादे, उपदेशात् उपदेशदानात्, उपदेशात्मकत्वाद्वा । नन्वल्पज्ञक्लृप्ते हितमपि जनानाम् " एतद्धित नवेति " सन्देहास्पदम्, अल्पवैद्यकल्पितौषधमिव, किञ्चाऽल्पज्ञक्लृप्तेऽपि घुणाक्षरन्यायेन किञ्चिद्धित भवति, न च तावता तस्य प्रामाण्यमितिशङ्कानिरसायाऽऽह-सकलज्ञक्लृप्ते =सर्वज्ञप्रणीतत्वात्, एवञ्च तत्रोपदिष्ट हित न शङ्कास्पदम्, नवा तद्धितबुद्धिकल्पितमिति न तत्राऽप्रामाण्यशङ्काऽ-वकाश इति भाव । ननूक्तविशिष्ट्य तत्र चेत्कथ न तल्लोकपरिगृही-तमिति चेन्मुग्धोऽसि, न केवल सामान्यैरपि तु विशिष्टै परि-गृहीतत्वेनेत्याह—मुमुक्षुसत्साधुपरिग्रहात् = मुमुक्षुभिर्निर्वाणेच्छुभि सद्भिर्विद्भि साधुभि परोपकारपरायणै मुनिभिश्च परिग्रहात्स्वीकारात्, सेवनाच्चेत्यर्थ । एते हि प्रेक्षावन्तोऽनुकरणीयाश्च, लोकाध्यासमिति-त्वात्, यदि तदप्रमाण स्यात्तैरपि परिगृहीत स्यादिति भाव । नन्वन्येऽपि निजनिजाऽऽगमानेव गुणविशिष्टानेव मन्यन्ते इति

कथमेतेषामेव प्रामाण्यमिति चेत्तत्राऽऽह—**पूर्वाऽपराऽर्थेषु**=पूर्वेषु पूर्वमुक्तेषु अपरेषु पश्चादुक्तेषु चाऽर्थेषु । **अविरोधसिद्धेः**=अविरोधस्य विरोधाऽभावस्य सिद्धेर्निश्चयात्प्रमाणेन सम्पादनाद्वा साधनाद्वा, अन्यत्र तु वेदादिषु न तथा, तथाहि–"मा हिंस्यात्सर्वभूतानी" ति पूर्वं हिंसानिषेधमुक्त्वा "श्वेतं वायव्यं पशुमालभेत भूतिकाम" इत्यादिना हिंसाया एव पश्चाद्विधानात्स्पष्ट एव पूर्वाऽपराऽर्थविरोधः । विरुद्धा वाक्च बालानामप्यनुपादेयेति कुतस्तत्र प्रामाण्यगन्धोऽपि । तत एव हेतोः, **सताम्**=विवेकिनाम्, **त्वदागमाः**=त्वया विहितत्वात्त्वत्सम्बन्धिन आगमा; द्वादशाङ्ग्यादयः, एव, नान्ये । **प्रमाणम्**=युक्तियुक्ततयोक्तगुणविशिष्टतया यथार्थज्ञानजनकतया श्रद्धेयतया विना शङ्कामुपादेयम् । एवञ्च भवानाप्त इत्यत्र न सन्देहगन्धोऽपीति भावः ॥११॥

अन्यगुणेषु केषाञ्चिद्विप्रतिपत्तावपि यथार्थवादाख्यो गुण एव भवत आप्तत्वे प्रमाणमित्याह—

क्षिप्येत वान्यैः सदृशीक्रियेत वा
तवाऽङ्घ्रिपीठे लुठनं सुरेशतुः ।
इदं यथाऽवस्थितवस्तुदेशनं
परैः कथङ्कारमपाकरिष्यते ? ॥१२॥

अन्वयः—तव अङ्घ्रिपीठे सुरेशितुः लुठनं परैः अन्यैः क्षिप्येत

वा सदृशीक्रियेत वा, इदं यथावस्थितवस्तुदेशनं कथङ्कारम् अपाकरिष्यते ॥१२॥

व्याख्या—तव=भवतो जिनेशितुः, अङ्घ्रिपीठे=अङ्घ्र्योः पीठमासनं तस्मिन्, पादपीठे इत्यर्थः । सुरेशितुः=सुरेषु देवेषु ईशिता शास्ता तस्य देवेन्द्रस्य, लुठनम्=आलोटनम्, भक्त्यतिशयेन मूर्ध्ना तत्र पादप्रणमनमिति मिलितार्थः । परैः=आज्ञाविराधकतया शत्रुतुल्यैः, अन्यैः=अन्यतीर्थ्यानुसारिभिः, क्षिप्येत=खण्ड्येत, न मन्येतेत्यर्थः । देवादिकृतत्वत्प्रणामस्य चर्मचक्षुर्भिस्तैरदर्शनादिनेति भावः । एको वाकारो विकल्पे, द्वितीयो वाक्यालङ्कारे । सदृशीक्रियेत= स्वेष्टदेवस्याऽपि देवेन्द्रादिकृतपादप्रणामादिवर्णनादुक्तयुक्त्या तस्यापि खण्डनापत्तिभिया मम देवस्याऽप्येतत्तुल्यमित्येव विधीयेत । तथा च न तावता कस्यचिदेकस्यैव वैशिष्ट्यमिति सङ्गतम्, उभयोरविशेषादिति भावः । एवं साम्यप्रतिपादनेऽपि त्वयि वैशिष्ट्यमवशिष्यत एवेत्याह—इदम्=अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकया समर्थयिष्यमाणं सम्प्रति बुद्धिस्थम्, यथावस्थितवस्तुदेशनम्=अवस्थितं सत्स्वरूपमनतिक्रम्य यथावस्थितं तेषां वस्तूनां पदार्थानां देशनं प्रतिपादनम्, स्वरूपाऽनतिक्रमेणाऽनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादनमित्यर्थः । अन्येषां वस्तुप्रतिपादनस्य दुर्नयान्वितता न तत्त्वमिति भावः । कथङ्कारम्= केन प्रकारेण, अपाकरिष्यते=निराकरिष्यते [1], तादृशयुक्तेरभावात् कथमपि नापाकरणीयमित्यर्थः । इति गर्भीकृत्यैतदनेन निगद्धर-

णमर्हति, सर्वज्ञेन वस्तुसर्वांशाऽवलोकनात्, तेन च वस्त्वेकदेशा-वलोकनादिति भावः । एवञ्च यथावस्थितवस्तुदेशनरूपवैशिष्ट्यस्या-ऽन्यविलक्षणस्य त्वय्येव सत्त्वात्त्वमाप्त एवेति हृदयम् ॥१२॥

नन्वेवं, तर्हि कथं न सर्व एव जिनशासनमेव न प्रतिप-द्यते इति तेत्तत्राऽऽह—

तद्दुःषमाकालखलायितं वा पचेलिमं कर्म भवाऽनुकूलम् ।
उपेक्षते यत्तव शासनार्थमयं जनो विप्रतिपद्यते वा ॥१३॥

अन्वयः—अयं जनः तव शासनार्थं यद् उपेक्षते विप्रतिपद्यते वा, तद्दुःषमाकालखलायितं भवाऽनुकूलं कर्म पचेलिमं वा ॥१३॥

व्याख्या—**अयम्**=बुद्धिस्थः परतीर्थिकः, **जनः**=सदसद्विवेकशून्यतया पामरकल्पो लोकः, जने साधारण्यद्योतनार्थमेवैकवचनेनोपन्यास इत्यवगन्तव्यम् । **तव**=स्तुतिविषयस्य भवतो जिनस्य, **शासनाऽर्थम्**= शासनस्य प्रतिपाद्यतया शासनसम्बन्धिनम्, अर्थम् अनेकान्तात्मकं वस्तु, यद्, **उपेक्षते**=युक्त्या समर्थितं यथावस्थितमपि गजनिमी-लिकया तिरस्करोति, न मन्यते इतियावत्, **वा**=अथवा, **विप्रतिपद्यते**=एतदित्थमन्यथा वेत्येवं विरुद्धबुद्धिविषयं करोति, **तत्**=तत्प्रकारमुपेक्षणं विप्रतिपत्तिर्वा, **दुःषमाकालखलायितम्**= दुःषमायास्तदाख्यस्य कालस्य कालविशेषस्य द्वादशारघटकस्य खलायितम् खलवदाचरितम्, काल एव तथा, येन लोको न सद्वस्तु

परिच्छिन्नत्तीत्यर्थ । वा=अथवा, भवाऽनुकूलम्=भवस्य ससार-परम्पराया अनुकूलमनुबन्धि, कर्म=अदृष्टम् ' पचेलिमम्=विपाकमापन्नम् । भवानुबन्धिन कर्मणो विपच्यमानतया कथ नाम भव-विरोधिपदार्थप्रतिपत्तिस्तस्य भवतु ? कर्मफलस्याऽवश्यभोक्तव्यत्वात् । नच तत्र युक्तिविरहादि कारणान्तरम्, अत एव न तावता भव-दासत्व विहन्यते, नह्यन्धो न पश्यतीति प्रदीपो न प्रकाशात्मक ?, न वा कामलादिदूषितनेत्र सर्वं पीत पश्यतीति न श्वेत वस्त्विति भाव ॥१३॥

ननु परोपदिष्टमार्गाऽऽश्रयणतोऽपि चेन्मोक्षस्तर्हि कथमुपालम्भयोग्या परे इति चेन्न । ततो मोक्षस्याऽसम्भवात्, अयथार्थत्वेन तस्य मोक्षमार्गत्वाऽभावादित्याह—

परःसहस्रा शरदस्तपासि
युगान्तर योगमुपासता वा ।
तथापि ते मार्गमनापतन्तो
न मोक्ष्यमाणा अपि यान्ति मोक्षम् ॥१४॥

अन्वय —पर सहस्रा शरदस्तपासि वा युगान्तर योगम् उपासताम्, तथापि ते मार्गम् अनापतन्त मोक्ष्यमाणा अपि मोक्ष न यान्ति ॥१४॥

व्याख्या—परःसहस्राः=सहस्रेभ्य परा पर सहस्रा, सहस्रा-

धिका इत्यर्थः । **शरदः**=वर्षाणि, यावदिति शेषः । **तपांसि**=व्रतोपवासादिविविधिरूपाणि तपांसि, **वा**=तथा, **युगान्तरम्**=अन्यो-युगःसत्ययुगादिः प्रसिद्धो युगान्तरम्, यस्मिन् युगे समुत्पन्नस्ततोऽ-प्यन्यान् युगान् यावत्, असङ्ख्यातकालं यावदिति भावः । **योगम्**=योगशास्त्रप्रसिद्धमनुष्ठानविशेषरूपम्, चित्तवृत्तिनिरोधरूपं समा-धिं वेत्यर्थः । **उपासताम्**=चरन्तु, **तथापि**=तावत्प्रयासाऽऽश्रयणेऽपि, **ते**=तव जिनेश्वरस्य, **मार्गम्**=सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपं मोक्षमार्गम्, **अनापतन्तः**=अप्राप्नुवन्तः, असेवमाना इत्यर्थः । **मोक्ष्यमाणाः**=भविष्यत्काले मोक्षं प्राप्स्यन्तोऽपि, भव्या अपीत्यर्थः । अपिनाऽ-भव्यानां तु मोक्षचर्चाऽनवसर एवेति ध्वन्यते । **मोक्षम्**=कृत्स्नकर्मक्षयजन्यशाश्वतिकाऽनन्तसुखाद्यात्मकं परमं पदम्, **न**=नैव, **यान्ति**=प्राप्नुवन्ति । यथार्थतया त्वदुपदिष्टमार्गस्यैवैकस्य मोक्ष-मार्गत्वात्परक्लृप्तमार्गस्य च तपोयोगाद्यात्मकस्याऽसर्ववित्कल्पितत्वाद्य-नेकदोषदुष्टतयाऽयथार्थत्वान्मोक्षमार्गत्वाऽभावादिति त्वन्मार्गस्यैव सर्वाऽ-तिशायितया भवानाप्त एवेति भावः ॥१४॥

परमार्गान्मोक्षो हि जिनमार्गाद्वैशिष्ट्य एव स्यात्, तदेव च तत्र दुर्लभम्, तत्र बहुविधविप्रलम्भसत्त्वादित्याह—

अनाप्तजाड्यादिविनिर्मितत्वसम्भावनासम्भविविप्रलम्भाः ।

परोपदेशाः परमाप्तक्लृप्तपथोपदेशे किमु संरभन्ते ? ॥१५॥

अत्राऽन्वयो निगदसिद्ध एव ॥१५॥

व्याख्या — अनाप्तजाड्यादिविनिर्मितत्वसम्भावनासम्भविविप्रलम्भाः=अनाप्तेन एकान्तवादितयाऽसर्वज्ञत्वनिश्चयाद् यथावस्थितवस्तुतत्त्वज्ञानविधुरेण, अतएव जाड्यादिना मन्दमतित्वपुरस्कारेण आदिना परस्परपक्षप्रतिपक्षभावान्मात्सर्यादिपुरस्कारेण च यद्विनिर्मितमुपदिष्टम्, तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्य या सम्भावना समारोप, युक्तिविरुद्धतयेति भाव, तया हेतुना सम्भविन समुद्भवन्तो विप्रलम्भा विरोधोक्तयोऽनाप्तादिना विनिर्मितत्वान्न यथार्थ इत्येवंप्रकारा अधिक्षेपा येषु तादृशा, अल्पज्ञादिप्ररूपितत्वादयथार्थप्रकारा इत्यर्थ । परोपदेशाः=परवचनानि, परमाप्तक्लृप्तपथोपदेशे=परमेण सर्वज्ञतया यथार्थवादितया च सर्वमुख्येनाऽऽप्तेन क्लृप्तस्य प्ररूपितस्य सेवितस्य च पथो मार्गस्य, मोक्षमार्गस्येत्यर्थ । उपदेशे प्रवचनविषये, जस्दादिकृतेऽपीति शेष । सरभन्ते=तदधिक्षेपायोत्सहन्ते, प्रगल्भन्ते इति यावत् । किम्विति प्रश्ने । नैव सरभन्ते इत्यर्थं । स्वयं दुष्टा नाऽन्यमदुष्टं दूषयितुं प्रभवन्तीति भाव । भवदुपदेशस्य परैरनधिक्षेप्यत्वाद्भवानाप्त एवेति हृद्यम् ॥१५॥

किञ्च परशासनेषु गुरुशिष्ययोरपि मतभेद, न च तत्र शासने तथा, यथार्थत्वेन तत्र कस्याऽपि मतभेदाऽनवकाशात्विति तव शासनमेव विजयते इत्याह—

यदार्जवादुक्तमयुक्तमन्यै-
स्तदन्यथाकारमकारि शिष्यैः ।
न विप्लवोऽयं तव शासनेऽभू-
दहो अधृष्या तव शासनश्रीः ॥१६॥

अन्वयः—अन्यैः यद् आर्जवाद् अयुक्तम् उक्तम्, शिष्यैः तद् अन्यथाकारम् अकारि, अयं विप्लवः तव शासने न अभूत्, अहो तव शासनश्रीः अधृष्या ॥१६॥

व्याख्या—अन्यैः=परैः गौतमकणादादिभिः, यत्=यत्प्रकारम्, आर्जवात्=ऋजुमतिभावात्, अल्पज्ञत्वादितियावत् । अयुक्तम्=युक्तिविरुद्धम्, नित्यैकान्तादिरूपम् । उक्तम्=उपदिष्टम्, शिष्यैः=अन्तेवासिभिरनुसारिभिश्च, परेषामित्यर्थबलाल्लभ्यते । तद्=अयुक्तम्-परोक्तम्, अन्यथाकारम्=प्रकारान्तरमापन्नम्, अकारि=व्याख्यातम् । तथाहि—गौतमेन षोडश, कणादेन च षट्पदार्थाः कथिताः, तच्छिष्यैस्तु नव्यैः सप्तैव पदार्था इति निर्णीतम्, तथा शङ्करेण ब्रह्माऽद्वैतमुक्तम्, तच्छिष्यैस्तु वाचस्पत्यादिभि र्विशिष्टाऽद्वैतादि समर्थितम्, तथा तथागतेन सर्वमनित्यमिति सामान्यतः प्रतिपादितम्, तच्छिष्यैस्तु क्षणिकत्वं सर्वशून्यत्वं च समर्थितम् । एवमन्येष्वपि बोध्यम् । यत्र गुरुशिष्ययोरेव परस्परं मतभेदस्तत्र यथार्थत्वस्य कोऽवकाश इति भाव. । किन्तु, अयम्=गुरूक्तस्य तच्छिष्यैरन्यथा-

करणरूप, विप्लवः=दौस्थ्यम्, तत्र=भवतो जिनेन्द्रस्य, शासने=प्रवचने, न=नैव, अभूत्=जात, तत्र यथार्थवादितयोक्तप्रकारविप्लवाऽनवकाशादिति भाव। अहो=माश्चर्यहर्षप्रकर्षकमेतद्, यत्, तव=जिनस्य, शासनश्रीः=प्रवचनसमृद्धि, अधृष्या=अपराभवनीया, विमतैरस्पृष्टेति यावत्। तव शासने विमत्यनवकाशाच्च शासनमेव विजयते, तत्र च भवत आसत्वमेव मूलमिति भाव। अत्र "उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवाऽस्तमेति च" त्यादिवचनेत्यस्य द्विरुक्तिर्न पौनरुक्त्या इत्यवधेयम् ॥१६॥

न केवल परशासनेषु विप्लव, परेष्टदेवेष्वपीत्याह—

देहाद्ययोगेन सदाशिवत्व शरीरयोगादुपदेशकर्म।
परस्परस्पर्धि कथ घटेत परोपक्लृप्तेष्वधिदैवतेषु? ॥१७॥

अन्वय—परोपक्लृप्तेषु अधिदैवतेषु परस्परस्पर्धि देहाद्ययोगेन सदाशिवत्व शरीरयोगाद् उपदेशकर्म कथ घटेत? ॥१७॥

व्याख्या—**परोपक्लृप्तेषु**=परै परतीर्थिकै उपक्लृप्तेषु कल्पनयास्वीकृतेषु, वस्तुतस्तादृशानामभावादिति भाव। **अधिदैवतेषु**=विशिष्टेषु देवेषु, **परस्परस्पर्धि**=परस्परविरोधि, निरोधमेव वितृणोति-**देहाद्ययोगेन**=देहादीनाम् अयोगेनाऽसम्बन्धेन हेतुना, तेषा तैर्निर्गुणत्व

स्वीकारादिति भावः, सदाशिवत्वम्=सर्वदामुक्तत्वम्, यो हि न मुक्तः स शरीरादिसम्बन्धवान् भवति, न च ते तथा, तस्मात्सदाशिवत्वमेव तेष्विति भावः । ननु कथं तर्ह्यशरीरिणां तेषामुपदेशादिकर्तृत्वमिति चेत्तत्राह – शरीरयोगात्=ऐश्वर्यशालितया शरीरादिसम्बन्धमाश्रित्य, यल्लोपे पञ्चमी । ईश्वरो हि सर्वसमर्थः, अन्यथेश्वरत्वमेव व्याहन्येतेति भावः । उद्देशकर्म=शासनकरणम्, कथं=केन प्रकारेण, घटेत ?=सङ्गच्छेत[2], विरुद्धधर्मयो: परस्परपरिहारेणैव स्थितेरेकत्राऽऽत्मनि शरीरयोगाऽयोगयोः परस्परविरोधिनोरसम्भवान्नैव घटेतेत्यर्थः । एवञ्च यत्रोपदेशकेष्वेव विवादस्तत्र तदुपदेशरूपेण कल्पिते शासने विवाद इति किमु वक्तव्यमिति भावः ॥१७॥

भवन्तु कथञ्चित्तथा ते देवाः, तथापि रागाद्याश्रयतया न ते आप्ताः, भवांस्तु वीतरागतया आप्त एवेत्याह—

प्रागेव देवान्तरसंश्रितानि
रागादिरूपाण्यवमान्तराणि ।
न मोहजन्यां करुणामपीश !
समाधिमाध्यस्थ्ययुगाश्रितोऽसि ॥१८॥

अन्वयः—ईश ! समाधिमाध्यास्थ्ययुक् ! रागादिरूपाणि अवमान्तराणि प्रागेव देवान्तरसंश्रितानि, मोहजन्यां करुणाम् अपि नाऽऽश्रितोऽसि ॥१८॥

व्याख्या—ईश !=निर्हेतुककारुणिकतया सन्मार्गोपदेशद्वारा स्वामिन्-स्वात्कृत्वात्स्वामिन् !, समाधिमाध्यस्थ्ययुक् !=समाधिना ध्यानैकतानतया मध्यस्थ्येनोपेक्षया च युज्यते इति स, तत्सम्बोधने, शुभध्यानवन् ! हितेष्वहितेषु चोपेक्षाऽस्थाऽस्य !, एतेनोपशमो वीतरागता च कथिता, एतद्विशेषणद्वयहृत्समेवाऽऽह—रागादिरूपाणि=रागद्वेषादिलक्षणानि, अरमाऽऽन्तराणि=अरमानि अरक्ष्यदेवतया निहतमानि च तानि आन्तराणि मनोवृत्तिविशेषाश्च तानि, आन्तराऽरयो रागाद्य इति यावत्, प्रागेव=जन्मतोऽपिपूर्वमेव, कैवल्यावस्थात पूर्वमेव वा, जिनस्य जन्मत एव ज्ञानत्रययुक्ततया, रागादिविरहे एव कैवल्योत्पत्तेश्चेति भाव । देवान्तरसंश्रितानि=अन्यो जिनभिन्नो देवो देवान्तर तत्र संश्रितानि सश्लिष्टानि, भवतो जिनेश्वरस्य समाधिस्थतया मध्यस्थतया च भवति निवाऽऽवासमप्राप्येव भवतो विमुच्य देवान्तरेषु प्राप्तानीत्यर्थ । जिनस्य वीतरागत्वात् देवान्तरस्य च दारपरिग्रहाऽसुरादिविनाशनेन रागादिमत्त्वनिश्चयाच्चेति भाव । ननु भवद्भि जिन परमकारुणिकतया वर्ण्यते, करुणा च परदुःखप्रहाणेच्छा, सा च रागमन्तरेणाऽसम्भविनी, ततश्च कथ तत्र रागाद्यभाव इति चेन्न । जिनस्य सर्वकर्मणां क्षयाद्यत्र नोदजन्यकरुणाया अभावात्, किन्तु परमकारुणिकतया परोपकारस्वभावत्वात् च किन्तु स्वरूपेण करुणा तत्र । परैर्देवाश्च मनकरणादिनिमित्त करुणावन्तो वर्णिता इति तेषां

करुणा मोहजन्यैव, कथमन्यथा स्वद्वेषिषु निग्रहार्थं तेषां प्रवृत्तिः ?, जिनस्य तु मध्यस्थतयाऽनिमित्तमेव करुणेत्याह—**मोहजन्याम्**=स्वभक्तेषु ममत्वमूलिकाम्, **करुणाम्**=परदुःखप्रहणेच्छारूपां दयामपि, अपिना यत्राऽवश्यं रागादिनिमित्तत्वसम्भवस्तदपि भवतो न रागादिनिमित्तम्, मध्यस्थत्वादिति परेष्टदेवाद्भवतो महदन्तरमिति वैशिष्ट्यं द्योत्यते । **न**=नैव, **आश्रितः**= स्वीकृतः, असि, अन्यथा माध्यस्थ्यविलोप एव स्यादिति भावः । तथा चैतादृशवैशिष्ट्यस्य भवत्येव सत्त्वाद्भवानाप्त एवेति हृदयम् ॥१८॥

ननु परेष्टदेवा जगत्कर्तुं हर्तुं च समर्थाः, न तु जिनस्तथा भवता वर्ण्यते इति परेष्टदेवेषु वैशिष्ट्यमतिरिच्यत इति चेद्, भवन्तु ते तथा, न च तैः प्राणिनः परमो लाभः, भवपरम्परायास्तेषां तदवस्थत्वात् । भवक्षयक्षमोपदेशे तु जिन एव समर्थो नाऽन्य इति शाश्वतिकाऽनन्तसुखप्रदत्वाज्जिन एव महानित्याह—

जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुन-
र्यथातथा वा पतयः प्रवादिनाम् ।
त्वदेकनिष्ठे भगवन् ! भवक्षय-
क्षमोपदेशे तु परं तपस्विनः ॥१९॥

अन्वयः—भगवन् ! प्रवादिना पतयः यथातथा वा जगन्ति

सृजन्तु पुन भिन्दन्तु वा । त्वदेकनिष्ठे भवक्षयक्षमोपदेशे तु पर तपस्विन ॥१९॥

व्याख्या —भगवन् !=ऐश्वर्यशालिन् !, सिद्धानन्तचतुष्कत्वादिति भाव । प्रवादिनाम्=युक्तिविरुद्धत्वादयथार्थवादिनाम्, एकान्त-वादिनामित्यर्थ । निर्युक्तिको हि वाद प्रवाद एव, न तु वादव्यपदेशयोग्य इति भाव । यतय'=इष्टा देवा विष्ण्वादय, यथातथा वा=येनकेनाऽपि प्रकारेण, तुष्यन्तु दुर्जना इति न्यायेन । वस्तुतस्तु नैव, स्वमते जगतोऽनाद्यनन्तत्वादिति भाव । जगन्ति= भुवनानि, सृजन्तु=रचयन्तु, "विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता" इत्यादिश्रुतेरितिभाव । पुन.=तथा, भिन्दन्तु=नाशयन्तु, संहर-न्त्वित्यर्थ । वाकारोऽनास्थायाम्, तद्धेतुरनुक्त एवेति बोध्यम् । तु विशेषे, तमेवाऽऽह—त्वदेकनिष्ठे=त्वय्येवैकस्मिन्निष्ठ, तस्मिन्, त्वन्मात्रकर्तृत्वतया त्वन्मात्राऽऽश्रिते इत्यर्थ । भवक्षयक्षमोपदेशे= भवस्य य क्षयोऽपुनर्भावस्तत्र क्षम समर्थो य उपदेश प्रवचनम्, तस्मिन्नित्यर्थ । परम्=अत्यन्तम्, तपस्विन =गौणलक्षणया तपस्वि वद्दिरका दीना दुर्बला वेत्यर्थ । तेषामेकान्तवादित्वाऽ-यथार्थोपदेशकत्वात्, मोक्षश्च यथार्थोपदेशत एव, तस्य च तेषु नितरामसम्भव इति तदुपदिष्टस्य भवत एवेति भवानेव सर्वमहानास इति भाव ॥१७॥

ननु यदि ते परेष्टदेवा जगत्सृष्टिभेदशक्तिशालिनस्तर्हि भव-

क्षयक्षमोपदेशं स्वयमजानन्तोऽपि जिनसकाशादेव कथं न गृह्णन्तीति चेत्तत्राह—

वपुश्च पर्यङ्कशयं श्लथं च
दृशौ च नासानियते स्थिरे च ।
न शिक्षितेयं परतीर्थनाथै-
र्जिनेन्द्र ! मुद्राऽपि तवाऽन्यदास्ताम् ॥२०॥

अन्वयः—जिनेन्द्र ! वपुः पर्यङ्कशयं च श्लथं च, दृशौ नासानियते च स्थिरे च, इयं तव मुद्रा अपि परतीर्थनाथैः न शिक्षिता, अन्यदास्ताम् ॥२०॥

व्याख्या—**जिनेन्द्र !**= जिनेश्वर !, **वपुः**=शरीरम्, तवेत्यर्थवशाल्लभ्यते, **पर्यङ्कशयम्**=पर्यङ्काख्याऽऽसनविशेषस्थितम्, तत्प्रकारश्च यथा—"स्याज्जङ्घयोरधोभागे पादोपरिकृते सति । पर्यङ्को नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिकः" इति ॥ **श्लथम्**=शिथिलम्, अकठिनमनम्रं चेत्यर्थः । चद्वयं यौगपद्ये, एवमग्रेऽपि, **दृशौ**=नेत्रे, **नासानियते**=नासायां नासिकाग्रभागे नियते लग्ने, अतएव **स्थिरे**=निश्चले, एतेनैकाग्रता सूचिता । **इयम्**=ईदृशी, **तव**=जिनेन्द्रस्य, **मुद्रा**=अवस्थानसन्निवेशविशेषः, अपिनोपदेशादिग्रहणाऽपेक्षयैतद्ग्रहणे सुकरत्वं ध्वन्यते । **न**=नैव, **शिक्षिता**=गृहीता, **अन्यत्**=त्वत्प्रवचनरहस्यादिकम्, **आस्ताम्**=दूरे तिष्ठतु । यद्धि सुग्रहं, तद्ग्रहणेऽपि

चेदुपास्टवन्ते, तर्हि तीव्रबुद्धिग्राह्यत्वत्प्रवचनरहस्यग्रहणस्य का चर्चा ?, मल्लवच्छरीरसामर्थ्यवन्तोऽपि जडा एवेति भवक्षयक्षमोपदेश ग्रहण तै दुष्करमिति स त्वदेकनिष्ठ एवेति भवान् मुक्तिप्रद त्वादाप्त एवेति भाव ॥२०॥

ननु जिनस्तादृश इति वचनमात्रमिति चेन्न । तदुक्त-शासनादेव तस्य तादृशस्याऽवगमादिति तच्छासनमपि विजयत एवेत्याह—

यदीयसम्यक्त्वबलात्प्रतीमो—
भवादृशाना परमस्वभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय
नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ॥२१॥

अन्वय —यदीयसम्यक्त्वबलाद् भवादृशाना परमस्वभाव प्रतीम, तस्मै कुवासनापाशविनाशनाय तव शासनाय नमोऽस्तु ॥२१॥

व्याख्या— यदीयसम्यक्त्वबलात् = यत्सम्बन्धिसम्यग्ज्ञानप्रभावात्, भवादृशानाम्=भवानिव दृश्यन्ते इति ते, तेषाम्, भवन्मदृशाना जिनेश्वराणामित्यर्थ । परमस्वभावम्=पारमार्थिकस्वरूपम्, यथाव द्वस्तुवेदित्वादिरूप यथार्थस्वरूपमित्यर्थ । तेषा परोक्षत्वादिति भाव । प्रतीम.=अवगच्छाम, तस्मै=तादृशायेतरविलक्षणाय, कुवासनापाश-

विनाशनाय=कुवासना बन्धप्रयोजकत्वाद्धेयत्वात्कुत्सिता या वासना संस्कारः, विषयाऽभिमुखचेतनतेति यावत्। सैव पाशो बन्धनरज्जुरिव, तस्य विनाशनाय समूलोच्छेदनाय, तव=जिनेश्वरस्य, शासनाय= द्वादशाङ्ग्यादिरूपाय प्रवचनाय, नमः=नमस्कारः, अस्तु=भवतु। यत्र प्रतिपादितसम्यग्ज्ञानं प्रपद्य दुर्बोध्यस्याऽपि बोधकं शक्तिविशेष- मासाद्यैव भवतो यथार्थस्वरूपं जानामि, तत्रोपायाऽन्तराऽभावात्। किञ्च तत्त्वच्छासनं भवक्षयक्षमोपदेशरूपत्वाद् बन्धप्रयोजककुवासना- विनाशनमपि, नैतद्वैशिष्ट्यमन्यत्र लभ्यम्, तेषां रागिपुरुषप्रणीतत्वेन कारणगुणस्य कार्ये सङ्क्रमणाऽवश्यंभावाद्रागप्रयोजकत्वात्। तस्मा- त्सर्वाऽतिशायितया त्वच्छासनमेव नमामीत्यर्थः। यस्य शासनं तादृक्, स न कथमप्यनाप्तो भवितुमर्हतीति भवानाप्त एवेति भावः ॥२१॥

ननु परेऽपि तत्तच्छास्त्रप्रणेतार एवेति कथं ते जडाः शक्या वक्तुम्, एवन्तर्हि तेषां जिनशासनोपेक्षणेऽसत्प्रतिपादने च स्वमतहठाग्रह एव निदानमिति गृहाण, तदाह—

अपक्षपातेन परीक्षमाणा-
द्वयं द्वयस्याऽप्रतिमं प्रतीमः।
यथास्थिताऽर्थप्रथनं तवैत-
दस्थाननिर्बन्धरसं परेषाम् ॥२२॥

अन्वयः—अपक्षपातेन परीक्षमाणा द्वयस्य द्वयम् अप्रतिमं प्रतीमः,

तत्र यथास्थितार्थप्रथनं परेषाम् अस्थाननिर्बन्धरसम् ॥२२॥

व्याख्या—अपक्षपातेन=न पक्षे स्वाऽभ्युपगते पात आग्रहोऽपक्षपात-स्तेन, तटस्थतयेत्यर्थः । एतेन स्वस्मिन्नप्रामाण्यशङ्का निरस्ता । **परीक्षमाणाः**=साधकबाधकयुक्त्या तारतम्यं विचारयन्तः, वयमिति शेषः । **द्वयस्य**=तव परेषाञ्च, **द्वयम्**=उभयम्, **अप्रतिमम्**=असदृशम् **प्रतीमः**=अवगच्छामः, उपमानाऽभावादितिभावः । द्वयमेवाऽऽह-**तव**=भवतो जिनेश्वरस्य, **यथास्थितार्थप्रथनम्**=स्थितमनतिक्रम्य यथा-स्थितम्, अर्थस्य वस्तुनः प्रथनमुपदेशः, वस्तुयथार्थस्वरूपोपदेश इत्यर्थः । सर्वज्ञत्वादिति भावः । **परेषाम्**=परवादिनाम्, **अस्थाननिर्बन्धरसम्**=अस्थानेऽसति यो निर्बन्धोऽभिनिवेशस्तत्र रसोऽनुरागस्तम्, असदाग्रहपरतन्त्रतामिति यावत् । स्वस्य लोके लाघवं मा जनीति भवत्प्रतिपादितवस्तुयथार्थस्वरूपमवगम्याऽपि स्वप्रतिपादितमसदपि हठा-त्समर्थयन्ति, नानल्पदुर्विदग्धत्वादिति भावः । एवञ्च भवद्यथास्थितार्थ-प्रथनं तत्त्वं, पराऽस्थाननिर्बन्धरसः स इवेत्यनन्वयो ध्वन्यते ॥२२॥

ननु स्वलक्ष्य प्रकाश्यैव तदाग्रहो निग्रहीतव्य इति चेत्,—"उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये" इत्याह—

अनाद्यविद्योपनिषन्निषण्णै-
र्विशृङ्खलैश्चापलमाचरद्भिः ।

अगूढलक्ष्योऽपि पराक्रिये य-
त्त्वत्किङ्करः किं करवाणि ? देव ! ॥२३॥

अन्वयः—देव ! अनाद्यविद्योपनिषन्निषण्णैः विशृङ्खलैः चापलम् आचरद्भिः अगूढलक्ष्यः अपि यत् पराक्रिये, तत् त्वत्किङ्करः किं करवाणि ?, ॥२३॥

व्याख्या—देव !=स्वामिन् !, अनाद्यविद्योपनिषन्निषण्णैः=न आदिर्यस्याः सा तादृशी या अविद्या कुत्सिता विद्या, न आद्या विद्या सा च, अर्वाचीनेत्यर्थः, पुरा हिंसादिविधानरहिता आर्यवेदा आसन्, याज्ञवल्क्यादिभिश्चाऽऽनार्यवेदाः कृता इतित्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितादौ प्रतिपादितमिति भावः । तस्या योपनिषद्रहस्यं तत्र निषण्णैर्निविष्टैः, कुशलैरित्यर्थः, अभव्यत्वेनाऽनादिकालतः कर्मबन्धप्रयोजकविधि-प्रतिपादकशास्त्रपारङ्गतैः, मायिभिः, अल्पज्ञैश्च, अतएव, विशृङ्खलैः=उच्छृङ्खलैः, नियमबन्धनाऽनधीनैरित्यर्थः । विद्या हि विनयं ददाति, नाऽविद्येति भावः । अत एव, चापलम्=अनवस्थितताम् आचरद्भिः=भजमानैः, वितण्डापण्डितैरिति यावत् । यो हि छलप्रधानोऽल्पज्ञः कुशास्त्रज्ञो नियमानधीनो वैतण्डिकश्च सोऽतिदुर्बोध्यः, प्रत्युत छलमाश्रित्य नियममुलङ्घ्य वितण्डामवलम्ब्य च सदुपदेशकमेव पराकरोतीत्याह—अगूढलक्ष्यः=स्पष्टस्वाभिप्रायः, स्वाभिप्रायस्याऽस्पष्टत्वे तु कथैव केत्यपेरर्थः । यत्=यत्प्रकारम् , पराक्रिये=तिरस्कृतो भवामि, त्वत्किङ्करः=तव जिनस्याऽपराधिन्यपि कारुण्यवतः किङ्करः

सेवक, किं करवाणि ?=किं विदधानि ?, नैव किमपीत्यर्थः । यतो वीतरागस्य तव किङ्कर, अतोऽपराधिन्यपि सहिष्णुरेव, य स्वहितं स्वयं न वेत्ति, तदर्थं वा न यतते, बोध्यमानश्च प्रत्युत पराकरोति, तमन्यो मादृशो वीतरागकिङ्करः किमन्यत्करोतु ?, प्रकारान्तरस्य शठे शाठ्यादिरूपस्य मादृशोऽनालम्बनीयत्वादिति भावः ॥२३॥

सम्प्रति जिनेश्वरस्य देशनाभूमेरप्यन्यवैलक्षण्यादाश्रयणीयत्वमाह—

विमुक्तवैरव्यसनानुबन्धाः
श्रयन्ति यां शाश्वतवैरिणोऽपि ।
परैरगम्यां तव योगिनाथ !
तां देशनाभूमिमुपाश्रयेऽहम् ॥२४॥

अन्वयः—योगिनाथ ! शाश्वतवैरिणोऽपि विमुक्तवैरव्यसनाऽनुबन्धा यां श्रयन्ति, परैरगम्यां तां तव देशनाभूमिमहमुपाश्रये ॥२४॥

व्याख्या—योगिनाथ !=योगिषु योगवत्सु समाधिमत्सु लब्ध्यादिमत्सु च सर्वोत्कृष्टत्वान्नाथ ईश इव, स, तत्सम्बोधने, एतेन शाश्वतवैरिणां निर्वैरताया कारणमाकूतमुक्तम्, योगप्रभावाद्धि सर्वमपि सम्भवतीति भावः । शाश्वतवैरिणः=शाश्वतं नित्यं च तद्वैरं च, तत्तेषामिति ते, शाश्वतवैरिण इत्यर्थः । अनवरतमिति चक्राणीनिपत्य-

र्मधारयान्मत्वर्थीयो बोध्यः, यद्वा शाश्वतं वैरिण इति विस्पष्टपटुवत्समासः । अपिना=निर्वैरिणां कृत्रिमवैरिणां च कथैव केति सूच्यते । विमुक्तवैरव्यसनानुबन्धाः=विमुक्तो विवर्जितो वैरस्य, अत एव, व्यसनस्य च, वैरजनितदु:खस्य वाऽनुबन्धः संसर्गो यैस्ते तादृशाः, वैरमेव व्यसनं तदनुबन्ध आसक्ति र्यैस्ते इति वा, त्यक्तसहजवैराग्रहा इत्यर्थः । याम्=यत्प्रकाराम् देशनाभूमिम्, श्रयन्ति=सेवन्ते, एतेन देशनाभूमेर्महाप्रभावशालित्वमवश्याऽऽश्रयणीयत्वं च ध्वनितम् । परैः=परवादिभिः, अगम्याम्=अप्राप्याम्, अभव्यत्वादिति भावः । ताम्=तत्प्रकाराम् तव=जिनेश्वरस्य, देशनाभूमिम्=प्रवचनस्थानविशेषम्, समवसरणमिति यावत् । सहजवैरिणोऽपि निर्वैरिणो भूत्वा या श्रयन्ति, तामेव परे न प्राप्नुवन्तीति महद्दुरदृष्टं तेषामित्युपहासोऽपि काक्वा व्यज्यते । अहम्=स्तोत्रन्यतमः, उपाश्रये=सेवे, वीतरागस्य तव सम्पर्कात्तव देशनाभूमिरपि रागद्वेषादिविरहप्रयोजिका, न च सा तथा परेषाम्, तत एवाऽन्यविलक्षणं तव वैशिष्ट्यमिति त्वं तव शासनं त्वद्देशनाभूमिरेव चाऽऽश्रयणीयानि न त्वन्यान्यतादृशानीति भावः ॥२४॥

ननु परेष्टदेवानां त्रिभुवनसाम्राज्यरूपं वैशिष्ट्यमन्यविलक्षणमिति तेऽपि कथं नाऽऽश्रयणीया इति चेत्तत्राऽऽह—

मदेन मानेन मनोभवेन
क्रोधेन लोभेन च संमदेन ।

पराजितानां प्रसभं सुराणां
वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ॥२५॥

अन्वय——मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन समदेन च प्रसभं पराजितानां परेषां सुराणां साम्राज्यरुजा वृथैव ॥२५॥

व्याख्या——मदेन = सुरापानाज्जनितमत्त्वम्मादकत्वादैश्वर्यादिजनितचित्तोद्रेकेण, मानेन=अहमेव सर्वमहानित्यादिरूपेण गर्वेण, मनोभवेन= कामेन, कथमन्यथा दारपरिग्रहस्तेषामिति भाव । क्रोधेन= कोपेन, असुरादिहननस्यान्यथाऽसम्भवादिति भाव । चः समुच्चये । प्रसभम्=हठात्, पराजितानाम्=वशीकृतानाम् । अवीतरागाणामिति समुदायाऽर्थ । परेषाम्=परवादिनाम्, सुराणाम्=देवानाम्, साम्राज्यरुजा=साम्राज्यरूपो रोग, अस्वास्थ्यमूलत्वात्साम्राज्य तेषां रोग एवेति भाव । वृथैव=निष्फलमेव, तत्र साम्राज्य हि याचिकदानादिपूपयोगान्मन्नाद्यकरणाच्च सफलम्, ननु तेषां तथेति तद्वृथैवेत्यर्थ । तदेव हि साम्राज्य यद्रागाद्यजननमिति भाव ॥२५॥

ननु परो निज भवाश्चाऽन्य विगोपयन् इति रागादेर्द्वयो स्वपरयोर्न तादृश्यादिति चेन्, तत्राह——

स्वकण्ठपीठे कठिनं कुठारं
परे किरन्त प्रलपन्तु किञ्चित् ।

मनीषिणां तु त्वयि वीतराग !
न रागमात्रेण मनोऽनुरक्तम् ॥२६॥

अन्वयः—वीतराग ! परे स्वकण्ठपीठे कठिनं कुठारं किरन्तः किञ्चित्प्रलपन्तु, मनीषिणा तु त्वयि रागमात्रेण मनः अनुरक्तं न ॥२६॥

व्याख्या — **वीतराग !**=वीतो दूरीभूतो राग उपलक्षणत्वादान्तराऽरिवर्गो यतः, स तादृशः, निर्मलचित्तवृत्ते ! इत्यर्थः । **परे**=अत्वदीयाः, **स्वकण्ठपीठे**=स्वकण्ठः पीठमिव, तस्मिन्, स्वकण्ठरूपे स्थाने इत्यर्थः । **कठिनम्**=तीक्ष्णाऽग्रम्, **कुठारम्**=परशुम्, **किरन्तः**=अर्पयन्तः, **किञ्चित्**=किमप्यवाच्यम्, असभ्यवचनमित्यर्थः । **प्रलपन्तु**=निरर्थकं वदन्तु, तव तदयोग्यत्वात्, अतस्त्वय्यवाच्यवचनं स्वकण्ठे कुठाराऽर्पणमिव तेषाम्, तेन तव किमप्यपकाराऽभावात्, प्रत्युत तेषामेव मुक्तिमार्गज्ञानाऽलाभेन दुःखसन्ततेरेव प्राप्यत्वादिति भावः । **मनीषिणाम्**=बुद्धिमता विवेकिनाम्, तुर्विशेषे, तमेवाह—**त्वयि**=वीतरागे भवति जिने विषये, **रागमात्रेण**=पक्षपातादेव, **मनः**=चित्तम्, **अनुरक्तम्**=भक्तिपरवशम्, **न**=नैव, किन्तु वीतरागत्वादेवेति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । परेषां तु तत्त्वाऽभावात्कुतस्तेषु मनोऽनुरज्यतु मनीषिणाम्[१], नहि कस्याऽपि प्रलापमात्रतः कुतोऽपि मनीषिणा मनो विरज्यति,

मनीषित्वस्यैव तथा सति व्याघातादिति भाव ॥२६॥

ननु तेऽपि स्व मध्यस्थमेवोद्घोषयन्ति, भवानपि च तथा, ततश्च जनो व्यामुह्यति, ततश्च स कि प्रत्येत्विति चेन्न । तेषा मत्सरित्वान्माध्यस्थ्याऽभावादित्याह—

सुनिश्चित मत्सरिणो जनस्य
न नाथ ! मुद्रामतिशेरते ते ।
माध्यस्थ्यमास्थाय परीक्षका ये
मणौ च काचे च समाऽनुबन्धाः ॥२७॥

अन्वय—नाथ ! ये माध्यस्थ्यमास्थाय परीक्षका मणौ च काचे च समाऽनुबन्धा, ते मत्सरिणो जनस्य मुद्रा नाऽतिशेरते, सुनिश्चितम् ॥२७॥

व्याख्या—नाथ !=स्वामिन् !, ये=यत्प्रकारा जना, माध्यस्थ्यम्=स्वस्याऽपक्षपातित्वम्, आस्थाय=आश्रयणीयतयोद्घोष्य, परीक्षका'=साधनबाधकप्रमाणै कृत्वा वस्तुतत्त्वचिन्तका, मणौ=स्वनामख्याते हीरकादिमणौ, काचे=स्वनामप्रसिद्धे वस्तुविशेषे च, एकश्च समुच्चयेऽपरो हेतौ, यत इति तदर्थ, समाऽनुबन्धा =तुल्यबुद्धय, ते=तादृशा, मत्सरिण.=रागवन्त, ईर्ष्यावन्तो वा, जनस्य=लोकस्य, मुद्राम्=स्थितिम्, न=न, अतिशेरते=उल्लङ्घयन्ति, सुनिश्चितम्=

एतदतिप्रतीतम् । को नाम परीक्षको मध्यस्थः सन् मणिं काचं च तुल्यं मन्येत विना मात्सर्यम् ?, अतोऽसद्वस्तुप्रतिपादके स्वेष्टदेवे यथावद्वस्तुप्रतिपादके भवति जिनेश्वरे च समत्वबुद्धि र्न तेषा तन्माध्यस्थ्यं गमयति, तर्हि भवन्तु प्रलापास्तेषा तथेति किमु वक्तव्यमिति भावः ॥२७॥

अतो जिनस्य तद्वचनस्य च सर्वाऽतिशायित्वमुद्घोषयति—

इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणा-
मुदारघोषामवघोषणां ब्रुवे ।
न वीतरागात्परमस्ति दैवतं
न चाऽप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः ॥२८॥

अन्वयः—प्रतिपक्षसाक्षिणा समक्षमिमामुदारघोषामवघोषणा ब्रुवे, वीतरागात्परं दैवतं नास्ति, अनेकान्तमृते च नयस्थिति र्नाऽपि॥२८॥

व्याख्या—**प्रतिपक्षसाक्षिणाम्**=प्रतिकूलः स्वविरुद्धः पक्षोऽभ्युपगमो येषा ते प्रतिपक्षास्तेषा साक्षिणः सहचराः सपक्षास्तेपाम्, **समक्षम्**=पुरत एव, नतु गुप्तम्, येन कस्याऽपि विकथाऽवसरः स्यादिति भावः । **इमाम्**=इदंप्रकाराम्, **उदारघोषाम्**=उदारः प्रामाण्यबलाद्दृढतरो घोषो नादो यस्या ता तादृशीम्, न तु दौर्बल्यान्मन्दस्वरामिति भावः । **अवघोषणाम्**=प्रतिज्ञात्मकगभीरोक्तिम्, **ब्रुवे**=वच्मि, का सेत्याह—

वीतरागात्=जिनात्, परम्=उत्कृष्टम्, दैवतम्=देव, नास्ति=न विद्यते, वीतरागत्वात्, अन्यस्य तथात्वाऽभावाच्चेति भाव । तथा, अनेकान्तम्=स्याद्वाद जिनोक्तिरूपम्, ऋते=विना, नयस्थिति = नया वस्तुयथार्थतत्त्वप्रतिपादकाऽनवधारणात्मकमार्गविशेषा, तेषा स्थिति व्यवस्था, नाऽपि=नैव, तत्र जिनस्य सर्वाऽतिशायित्वमेतावता समर्थितमेव, स्याद्वादस्य तु तत्त्वमन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकया समर्थयिष्यते, वीतरागोक्तिरेव सर्वाऽतिशयिनीति वा समर्थनीयम् ॥२८॥

जिनोपासने तत्राप्तत्वमेव हेतुरिति स्वस्य प्रेक्षावत्त्व प्रकटयन्नाह—

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो
न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु
त्वामेव वीर ! प्रभुमाश्रिता स्मः ॥२९॥

अन्वय —वीर ! त्वयि श्रद्धया एव पक्षपात न, परेषु द्वेषमात्राद् अरुचि न, यथावद्आप्तत्वपरीक्षया तु त्वाम् एव प्रभुम् आश्रिता स्म ॥२९

व्याख्या—वीर !=बाह्याऽऽन्तरोभयप्रकाराऽरिजेतृत्वाद्वीरशब्दवाच्य !, महावीर !, त्वयि=भवति विषये, श्रद्धया=विश्वासाऽतिशयेन, एवकारोऽवधारणे, पक्षपात =अनुरागाऽतिरेकात्त्वदभ्युपगतसमर्थनादि

रूपो निजोत्साहः, न=नैव, तथा, परेषु=परेष्टदेवेषु, द्वेषमात्रात्=मत्सरभावादेव, अरुचिः=अप्रीतिः, न=नैव, तुर्विशेषे । तमेवाह—यथावद् = विधिपूर्वकम्, आप्तत्वपरीक्षया= वस्तुयाथात्म्योपदेशस्य सप्रमाणत्वनिश्चयेन, त्वाम्=भवन्तमेव, न त्वन्यम्, तस्याऽऽप्तत्वाऽभावात्प्रेक्षावतोऽनाप्ताश्रयणस्याऽयोग्यत्वादिति भावः । प्रभुम्=ईशम्, उपदेशादिना पालकत्त्वेन स्वामिनम्, आश्रिताः स्मः=उपास्महे, समीक्ष्यकारिणां ह्यसमीक्षिताऽभिधायके प्रीति र्न जायत इति स्वस्य प्रेक्षापूर्वकारित्वं ताटस्थ्येन मन्तृत्वं च ध्वन्यते ॥२९॥

तवाऽऽश्रयणञ्चाऽऽप्तत्वरूपत्वत्स्वरूपप्रकाशकत्वदाज्ञाराधनेन कृत्वेत्याह—

तमःस्पृशामप्रतिभासभाजं
भवन्तमप्याशु विविन्दते याः ।
महेम चन्द्रांशुदृशोऽवदाता-
स्तास्तर्कपुण्या जगदीश ! वाचः ॥३०॥

अन्वयः—जगदीश ! याः तमःस्पृशाम् अप्रतिभासभाजं भवन्तम् अपि आशु विविन्दते, चन्द्रांशुदृशः अवदाताः तर्कपुण्याः ता वाचः महेम ॥३०॥

व्याख्या—जगदीश !=जगता सन्मार्गोपदेशादिनेशवत्पालकत्वा-

दीन!, परमेश्वरेत्यर्थ । याः=यत्प्रकारा भवद्वाच, तमःस्पृशाम्= तमास्यन्धकारवन्थोऽप्रकाशकत्वात्तानाति स्पृशन्तीति तादृशा, अनात्मिनो रागादिपरतन्त्रतया तमोगुणिनश्च, तेषाम्, अप्रतिभासभाजम्= न प्रतिभास गोचरता भजतीनि न तादृशम्, अगोचरमित्यर्थ, ज्ञानिनामेव गोचरस्त्वमिति भाव । भवन्तम्=त्वा योगिन ज्ञानगम्यम्, अपिना वाच सूक्ष्मप्रकाशकत्वेऽन्यविषयप्रकाशकत्व सुतरामिति सूच्यते । आशु=शीघ्रम्, सहजत एवेत्यर्थ । एतेन वाचोऽनुपमलत्वम्, सूक्ष्मतरस्याऽप्याशु प्रकाशकत्वादिति सूचितम् । विविन्दते=लभन्ते, प्रकटयन्तीति यावत् । चन्द्राशुदृश.=चन्द्राशव इव दृश्यन्ते इति ताश्चन्द्राशव इव निर्मला, अवदाता =दोषाऽसम्पृक्तत्वाद्विशुद्धा, तत्र निर्दोषणद्वारेण हेतुमाह—तर्कपुण्या =परीक्षिता, प्रमाणपरिच्छिन्ना इति यावत् । ता =तादृश्य, वाच = भवत्प्रवचनानि, महेम=पूजयेम । यथाविधि पूजयाम इत्यर्थ । अन्यास्तु न तथेति तासा प्रेक्षावत्कर्तृकपूजाऽनवसर एवेति भाव ॥३०॥

वीतरागत्वा रूपत सर्व एव जिना भवद्भिना इति भवगणान्येत सर्व एव नमस्या भवन्तीत्याह—

यत्र तत्र समये यथा तथा
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।

वीतदोषकलुषः स चेद्भवा-
नेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥३१॥

अन्वयः—यत्र तत्र समये यथा तथा यया तया अभिधया योऽसि सोऽसि, स चेद् वीतदोषकलुषः, भवान् एक एव, भगवन्! ते नमोऽस्तु ॥३१॥

व्याख्या—**यत्र तत्र**=यस्मिन् कस्मिन्, **समये**=काले, युगादेरारभ्याऽनन्तकालं यावदित्यर्थः । **यथा तथा**=येन केन प्रकारेण, तीर्थङ्करादिप्रकारेणेत्यर्थः । **यया तया**=येन केनाऽपि, **अभिधया**=नाम्ना, वृषभादिनाम्नेत्यर्थः । **योऽसि सोऽसि**=यः कोऽपि वा भवसि, नत्वेको वीर एव वा वृषभ एव वेत्येवमिति भावः । **सः**=तादृशः, **चेद्**=यदि, **वीतदोषकलुषः**=वीता अतीता दोषा रागादयः कलुषाणीव यतः, स तादृशः, जिन इत्यर्थः । तदेति शेषः, **भवान्**=वीरः, **एकः**=अभिन्नः, एवकारेण भेदव्यवच्छेदः, वीतरागत्वेन रूपेण सर्वेऽपि तीर्थङ्करा भवदभिन्ना इति भवानेव, नतु व्यक्तिभेदाद्भेदः, तस्या नमस्कारेऽनपेक्षणादिति भावः । अतः, **भगवन्!**=ऐश्वर्यशालिन्!, अतिशयचतुष्टयाऽलङ्कृतेत्यर्थः । **ते**=तादृशाय तुभ्यं सर्वजिनात्मने, **नमोऽस्तु**=नमस्कारः सम्पद्यताम् । भवते मत्कृतो नमस्कारो भवतादात्म्येन सर्वजिननमस्काररूपेण परिणमत्विति यावत्, रथोद्धताच्छन्दः ॥३१॥

सम्प्रत्युपसंहरन् कृतेरस्याः प्रशस्तिमाह—

इदं श्रद्धामात्रं तदथ परनिन्दां मृदुधियो
विगाहन्तां हन्त! प्रकृतिपरवादव्यसनिनः।
अरक्तद्विष्टानां जिनवर! परीक्षाक्षमधिया—
मयं तत्त्वाऽऽलोकः स्तुतिमयमुपाधिं विधृतवान् ॥३२॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिताऽयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिकास्तुतिः समाप्ता ॥ * ॥ * ॥ * ॥

अन्वयः—जिनवर! मृदुधियः तदिदं श्रद्धामात्रम् अथ प्रकृतिपरवाद-व्यसनिनः परनिन्दां विगाहन्ताम्, हन्त!, अरक्तद्विष्टानां परीक्षाक्षम-धियां स्तुतिमयम् उपाधिं विधृतवान् अयं तत्त्वालोकः ॥३२॥

व्याख्या—जिनवर!=श्री महावीरस्वामिन्! जिनश्रेष्ठ!, मृदुधियः=मृद्वी तत्त्वग्रहणाऽपटुत्वात्कोमला धीः बुद्धिर्येषां ते तादृशाः, अपरिपक्वमतय इति यावत्। तद् इदम्=भवद्गुणगणासत्वसमर्थनरूपं काव्यम्, श्रद्धामात्रम्=श्रद्धैव, श्रद्धातिरेकोद्गार एवायं। निर्दिष्टं भक्ति-विशेषाऽतिशयप्रदर्शनमेवेति यावत्। विगाहन्तामिति सम्बध्यते। साधारणजनानां तथाप्रवृत्ते निष्प्रयोजनत्वेन ... न्त्येवेति ... व, अथ=तथा, प्रकृतिपरवादव्यसनिनः=प्रकृत्या निसर्गत एव,

कारणं विनैवेति यावत् । परस्य स्वेष्टभिन्नस्य यो वादोऽपवादस्तत्र व्यसनिनः कदाग्रहवन्तः, परापवादशीला इत्यर्थः । दुर्जना इति यावत् । **परनिन्दाम्**=स्वेष्टभिन्नविगोपनाम् **विगाहन्ताम्**=प्रतिपद्यन्ताम्, यत्र हि यथार्थकथनेनैकस्य लाघवमपरस्य च महत्त्वं जायते, तत्र दुर्जनास्ता परनिन्दां प्रख्यापयन्तीति लोके प्रतीतमिति भावः । हन्तेति खेदे । दुर्जना यथार्थमपि परनिन्दात्वेन प्रख्याप्य सरलमतीनुत्पथे नयन्तीति खेदजनकमिति भावः । किन्तु, **अरक्तद्विष्टानाम्**=रक्ताश्च द्विष्टाश्च न भवन्तीत्यरक्तद्विष्टास्तेषाम् रागद्वेषवर्जितानाम्, मध्यस्थानां विवेकिनामिति यावत् । अतएव, **परीक्षाक्षमधियाम्**=परीक्षाया सदसद्विवेके क्षमा पट्वी धीर्येषां ते, तादृशास्तेषाम्, मर्मग्रहणपटुबुद्धीनामित्यर्थः । मध्यस्था एव हि परीक्षका इति भावः । **स्तुतिमयम्**=स्तुतिः प्राचुर्येण प्रकृता यत्र तं तादृशम्, स्तुत्यात्मकमित्यर्थः । **उपाधिम्**=उपाख्याम्, धर्मचिन्ता वा, "उपाधिर्नो धर्मचिन्ते" त्यमरः । **विधृतवान्**=आश्रितः, **अयम्**=प्रस्तुतः प्रबन्धः, **तत्त्वालोकः**=यथार्थरहस्यप्रकाशकः, स्तुतिरूपेयं तत्त्ववार्तैव, यतश्च स्तुतिमयोऽयं धर्मचिन्तैव, जिनस्तुतेर्धर्म्यत्वात् । मध्यस्थतयाऽस्य निबद्धत्वाच्चेत्यर्थः । एवञ्चैतदध्ययनेनाऽध्येतॄणां तत्त्वज्ञानं धर्मश्च जायते इत्येष प्रबन्धोऽवश्यमुपादेय इति भावः । शिखरिणीच्छन्दः ॥३२॥ ॥ * ॥ * ॥ * ॥

द्वात्रिंशिकास्तुते श्रीतपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रभृत्यनेक-
तीर्थोद्धारकबालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारसमय-
ज्ञशान्तमूर्त्याचार्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरपट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृत-
विद्विशारदाऽऽचार्यवर्यश्रीकस्तूरसूरीश्वरशिष्यश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविर
चिता कीर्तिकलाख्या व्याख्या समाप्ता ॥



॥ अर्हम् ॥

श्रीनेमि-विज्ञान-कस्तूरसूरि-सद्गुरुभ्यो नमः ।

॥ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिः

॥ कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता ॥

तत्रभवान् भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्योऽयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकामेव निर्मायाऽन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकामत्र निरमासीत् । तत्राऽन्ययोगव्यवच्छेदो नामाऽन्यस्मिन् स्याऽसीदादिके योगस्येष्टविशेषणसम्बन्धस्य व्यवच्छेदो निरास, विशेषणविषये विशेष्याऽवधारणमिति यावत् । स चाऽन्ययोगव्यवच्छेदो विशेष्यसम्बद्धैवकारेण प्रतिपाद्यते । यथा-"पार्थ एव धनुर्धरः" इति । अत्र पार्थरूपविशेष्यसम्बद्धैवकारेण धनुर्धरत्वस्याऽन्यस्मिन् पार्थभिन्ने भटे सम्बन्धो निराक्रियते । तथा च पार्थ एव धनुर्धरो नान्य इत्यर्थः । तथाऽयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकान्तेऽपि वीतरागे आप्तत्व समर्थ्य सम्प्रति वीतराग एवाऽऽप्तोऽन्य इत्यस्यार्थे "अन्यस्मिन् योगो व्यवच्छिद्यतेऽनयेत्यन्ययोगव्यवच्छेदः । करणे घञ् । सा चाऽसौ द्वात्रिंशिका चाऽन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, तामत्र स्तव जिनराह—

अनन्तविज्ञानमतीतदोष-
मबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्री वर्धमानं जिनमाप्तमुख्यं
स्वयम्भुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ॥१॥

अन्वयः—स्वयम्भुवम् अनन्तविज्ञानम्, अतीतदोषम् अबाध्यसिद्धान्तम् आप्तमुख्यम् अमर्त्यपूज्यं श्री वर्धमानं जिनं स्तोतुम् अहं यतिष्ये ॥१॥

व्याख्या—स्वयम्भुवम्=स्वयमात्मनैव परकृतोपदेशादिकं विनैव भवते बोधं मुक्तिञ्च प्राप्नोतीति स तादृशः स्वयम्भूः; तं स्वयंसम्बुद्धम् । भू प्राप्तावात्मनेपदी चुरादिः । गुरूपदेशदेवप्रसादादिकं विनैव प्राप्त-बोधमित्यर्थः । न तु तीर्थान्तरीयवद् गुरूपदेशतो विष्ण्वादिदेव-कृपया वा ज्ञानं मुक्तिं र्वा लभ्यते जिनेश्वरैः, तस्य ज्ञाना-वरणीयादिक्षयजन्यत्वात् । कर्मक्षयश्च भोगतपोऽनुष्ठानादिनैव । यदुक्तम्—"नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपी" ति । "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः । बन्धुरात्माऽऽत्म-नस्तस्य येनाऽऽत्मैवाऽत्मना जितः" इति चेति भावः । किञ्चाऽ-नेन विशेषणेन गुरूपासनादिप्राप्तरत्नत्रयाणा व्यावृत्तिः क्रियते, तेषां स्तुत्यत्वेऽप्यत्र तेषामनुद्देश्यत्वात् । तीर्थकृतः स्तुतेरेवेष्टत्वात् । तीर्थकृतश्च स्वयंसम्बुद्धा एवेति बोध्यम् । अथ च—स्वयमात्म-नैव भवत्युत्पद्यते इति स्वयम्भूस्तमित्यर्थः । आत्मा हि कर्म-

वशात्स्वयमेव भवे जन्म गृह्णाति; नतु तत्र कोऽप्यन्य प्रयोजक । एतेन "अनो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदु खयो । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वे" इत्यादि प्रत्युक्त वेदितव्यम् । यत स्वयम्भुवमत –अनन्तविज्ञानम्=अविद्यमानोऽन्तोऽवसान यस्य तत्तादृशम्, अविनश्वरमित्यर्थ । नित्यमिति यावत् । तद् विज्ञान वि विशिष्ट सम्यग्दर्शनसहचरित ज्ञान सम्यग्ज्ञान यस्य स तादृशोऽनन्तविज्ञान, यद्वा –अनन्त लोकाऽलोकात्मकमाकाशम्, अजहल्लक्षणया तत्स्थ वस्तु च सर्वं विज्ञाने आत्मप्रत्यक्षात्मके ज्ञाने यस्य स तादृश, केवलाऽऽत्म्यक्षायिकज्ञानवन्तमित्यर्थ । सर्वज्ञमिति यावत् । "नभोऽन्तरीक्ष गगनमनन्त सुरवर्त्म खमि" त्यमर । कारणसाकल्ये कार्यस्याऽवश्य भावाच्च स्वय–सम्बुद्ध स सर्वज्ञो भवत्येवेति भाव । एतेन ज्ञानाऽतिशय उक्त । यतश्च हेयोपादेयादिसर्वविषयक ज्ञानम्, अत —अतीतदोषम्=अतीता सकलकर्मक्षयाद्विनष्टा दोषा रागादयो यस्य स, तादृशस्तम्, कर्मव हि दोषकारणम्, कारणाऽभावाच्च कार्याभाव, तथा च वीतरागमित्यर्थ । किञ्च हेयोपादेयज्ञानाद्धेयपरित्यागेनोपादेयस्यैव ग्रहणाद्दोषरहितमित्यर्थ । यस्य न सर्वहेयोपादेयज्ञानम्, स सर्वं हेय त्यक्तु न शक्नोति, न ह्यज्ञात कोऽपि त्यजति, तस्मादनन्तविज्ञान एवाऽतीतदोषो भवितुमर्हतीति भाव । एतेनाऽपायाऽपगमाऽतिशय उक्त । नन्वेवमनन्तविज्ञानमतीतदोषमित्युभयोर्विशेषणयोरेकमेवोपादेयम्, एकस्य सत्त्वेऽपरस्याऽ-

वश्यम्भावाद् गतार्थत्वादिति चेन्न। मुक्तेर्दुःखध्वंसरूपत्वान्मुक्तात्मा न ज्ञानवान्, ज्ञानकारणमनःसंयोगरूपदुःखाऽभावात्, अत एव न तत्र सुखादिकमपीति कुमतनिराकरणार्थमुभयोपादानात्। योऽनन्तज्ञानवान् स एवाऽतीतदोषः, य एवाऽतीतदोषः स एवाऽनन्तज्ञानवानित्यस्यैव स्वसम्मतत्वादित्यग्रे प्रतिपादयिष्यते "न संविदानन्दमयी च मुक्तिरि" त्यादिनेति बोध्यम्। ननु भवतु स उक्तविशेषणत्रयविशिष्टः, अस्माकं तेन को लाभ इति चेत्तत्राह—**अबाध्यसिद्धान्तम्** = अबाध्यस्त्रिकालेऽप्यदूषणीयः, प्रमाणपुरस्कृतः इति यावत्। तादृशः सिद्धान्तो विरुद्धाऽनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादनरूपस्याद्वादाख्यसमयो यस्य स तादृशः, तम्। यथार्थवक्तारमित्यर्थः। एवञ्च तद्यथार्थोक्त्यनुसरणेनाऽऽत्मकल्याणलाभ इति भावः। एतेन वचनाऽतिशय उक्तः। एतेन य उक्तविशेषणत्रयविशिष्टो भवति, स एव यथार्थवक्ता, न तु दारपरिग्रहादिदोषबहुलो विष्ण्वादिरिति तदुक्तो वेदादिरप्रमाण एवेति च सूचितम्। ननु य उक्तविशेषणत्रयविशिष्टो भवति, सोऽबाध्यसिद्धान्तो भवत्येवेति विशेषणमेतदनर्थकमिति चेन्न। मुण्डकेवलिना व्यावृत्तयेऽस्य विशेषणस्योपादानात्। तेषा प्रवचनाऽसमर्थत्वादिति बोध्यम्। अत एव **आप्तमुख्यम्**=आप्नोति यथास्थितानर्थान् ज्ञानविषयीकरणद्वारेति स आप्तः, स चाऽसौ मुख्यश्च, आप्तेषु मुख्य इति वा, आप्तश्रेष्ठ इत्यर्थः। अङ्गेषु मुखमिव यथास्थितवस्तुवक्तृतयाऽऽप्ताना श्रुतकेवल्यादीनामन्यतीर्थिकस्वीकृताऽऽप्तानाञ्चाऽयमेव वीतरागत्वादि-

गुणविशिष्टतया मुख्य इति यावत्। लोकेऽपि हि गुणविशेषविशिष्टो मुख्यो भवतीति भाव । यतोऽस्य सिद्धान्तोऽनाप्योऽत एवाऽऽप्त, यथास्थितवस्तुवक्तृत्वेनाऽऽप्तत्वाऽनुमानात्। अत एव—अमर्त्यपूज्यम्= अमर्त्या देवास्तै पूज्यम्, उक्तविशेषणविशिष्टस्याऽमर्त्यपूज्यत्व न कृत्रिमम्, किन्तु योऽमर्त्यपूज्यो भवति, स मर्त्यपूज्यो भवतीति किमु वक्तव्यमिति भाव । एतेन पूजातिशय उक्त । विशेष्यमाह— श्रीवर्धमानम्=श्रिया युक्तश्चाऽसौ वर्धतामित्याख्यमान श्रीवर्धमान, तदाख्यस्तीर्थङ्कर, इत्यथ । श्रीश्च पूर्वार्धोक्तविशेषणसूचितज्ञानाऽ— पायाऽपगमवचनपूजालक्षणाऽतिशयचतुष्टयरूपा, वृद्धिश्च कीर्त्यादेरा- ससारमिति बोध्यम्। त तादृशम्। जिनम्=जयति रागादीनिति व्युत्पत्त्या वीतरागत्वाज्जिनपदवाच्यम्, यो ह्युक्तविशेषणविशिष्टो भवति स जिन एवेति सूचनाय तद्विशेषणमित्यवसेयम्। स्तोतुम्=स्तुति- विषयीकर्तुम्, अहम्=श्रीहेमचन्द्र, यतिष्ये=यत्नमाथयिष्ये। अत्र स्तो ष्यामीत्यनुक्त्वा स्तोतु यतिष्ये इति कथनेन तादृशस्य स्तुतौ कृतिसाध्यत्व मविचार्यैव प्रवर्त्तितव्यम्, अन्यथा तादृशस्य स्तुते कदापि कृत्यसाध्य त्वाऽप्रवृत्तिरेव तत्र व्याहन्येतेति महती श्रेयोहानि, तादृशस्तवयत्नाऽपि च श्रेयोलाभादिति भाव । योऽनन्तज्ञानवान् दोषरहित, यस्य च सिद्धान्तो न कदापि केनाऽपि बाध्यते, स एवाऽऽप्तो नाऽन्य इत्यन्ययोगव्यवच्छेद आप्तत्वस्याऽनेन स्तुतिपद्येन सूचित । अह मिपेव्यरचनेन चाऽत्र स्वस्य विनयाऽतिशयात्स्तुतिकौशल्यमनाऽप्यता सूच्यते। अत्र सर्वेऽन्त्यश्लोक मुक्त्वा सर्वोपजातिश्छन्द ॥१॥

ननु स्तुतिर्गुणकीर्त्तनम्, जिनगुणानाञ्चाऽऽनन्त्यात्तद्गुणकीर्त्तनं कृत्यसाध्यम्। यथाकथञ्चित्स्तुतिश्च न फलायाऽलम्, परिहासाय वा स्यादिति चेन्न। "नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात! गच्छती" त्युक्त्यनुसारेण श्रेयसि कृतिसाध्यत्वमनपेक्ष्यैव यतनीयमेव। अंशांऽशेनाऽपि च तत्सम्पत्तौ परिहासाऽनवसरः। भगवतो यथार्थवादाख्यश्च गुण इतरवादनिराकरणेन स्तोतुं शक्य इति न तदंशे कृत्यसाध्यत्वमपि, स्वशक्त्यनुरूपं च चेष्टमानोऽसमग्रकारित्वेन नोपालभ्योऽपीत्यनुसन्धाय, तव यथार्थवादाख्यगुणमेव त्वय्येवाऽऽप्तत्वमित्यवधारणाय स्तोतुमिच्छामीत्याह—

अयं जनो नाथ! तव स्तवाय
गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव।
विगाहतां किन्तु यथार्थवाद-
मेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः ॥२॥

अन्वयः—नाथ! तव गुणान्तरेभ्यः स्तवाय स्पृहयालुः एव अयं जनः, किन्तु परीक्षाविधिदुर्विदग्धः एकं यथार्थवादं विगाहताम् ॥२॥

व्याख्या—**नाथ!**=नाथ्यते प्रार्थ्यतेऽसौ स्वाभीष्टमिति सः, तत्सम्बोधने। प्रार्थनीय इत्यर्थः। सर्वशक्तिसम्पन्नतया त्वमेव प्रर्थनीयो नान्य इति भावः। **तव**=भवतो जिनस्य, **गुणान्तरेभ्यः**=अन्ये गुणा गुणान्तराणि, तेभ्यः, अन्यगुणानित्यर्थः। स्पृहेर्योगे ("स्पृहेर्व्याप्यं

वा" । ,२।२।२६॥ सि हे) चतुर्थी । स्तवाय= स्तोतुम्, अत्र स्तवस्य भाववचनात्तुमोऽर्थ (तुमोऽर्थे भाववचनात्, २।२।६१॥ सि हे) चतुर्थी बोध्या । स्पृहयालु =इच्छुरेव, अत्रैवकारेणैकगुणस्तवनेनाऽन्यगुणस्तवनाऽनिच्छा न बोध्या, नहि याव-दिष्ट कृतिसाध्य भवति, अतोऽन्यकृत्यसाध्यगुणस्तवनेच्छैव भवति, न तु प्रवृत्तिरपीति सूच्यते । अयम्=त्वद्गुणस्तोतृष्वन्यतम, जन'= हेमचन्द्राख्यो व्यक्तिविशेष । नन्वेतावता क आशयस्ते इत्याह- किन्तु=तादृगस्पृहाया सत्यामपि, यत, परीक्षाविधिदुर्विदग्ध.= परीक्षा यथावद्दोषगुणाभिनिवेश, प्रकृते च परमतनिराकरणपूर्वक- जिनमतसमर्थनरूपा, तस्या यो विधि सम्पादनम्, तत्र दुर्विदग्ध विदग्धश्चतुर, स च दु निकृष्ट, स्वस्य चतुरमन्यत्वात्, चतुरम्मन्य इत्यर्थ । अत्र नाऽन्यस्त चतुर मन्यते, चतुर- म्मन्यश्च वस्तुतोऽचतुर एव भवतीत्यनिष्टोऽर्थ प्रतीयते, तस्मात् " परीक्षाविधिधीमदुद्ध " इति पाठ साधीयान् । परीक्षाविधौ धीस- मृद्ध प्रशस्त, परीक्षानिपुण इति चाऽर्थ । न च स्वेन स्वस्य स्तुतिरनुचितेति वाच्यम् । स्वप्रतिपाद्ये लोकश्रद्धाऽतिशयाय स्वगुण- कीर्तनस्याऽऽवश्यकतयाऽदोषत्वादिति बोध्यम् । यतस्तया, जन, एकम्=प्रधानम्, " एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथे " त्यमर । यथार्थवादम्=यथावस्थितवस्तुप्रतिपादक लोकीय सिद्धा- न्तरूप गुणमित्यर्थ । विगाहताम्=स्तुतिविषयीकरोतु, गुणानामा- नन्त्यादिति भाव । यथार्थवचनेन यतीयम्, त्वमेव च यथार्थ-

वक्तेति च भावः । यद्वा दुर्विदग्धो नातिपटुः, अत एकमेव गुणं विगाहताम्, अतिपटु हिं कतिपयगुणानपि विगाढुं समर्थः स्यात्, एकगुणस्याऽप्यनवगाहने तु पटुतैव हीयेतेति भावः ॥२॥

तवाऽसूयकैरपि सत्यं विचारणीयमेवेत्याह—

गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी
मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।
तथापि सम्मील्य विलोचनानि
विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम् ॥३॥

अन्वयः—अमी परे गुणेषु असूयां दधतः भवन्तम् ईशं नाम मा शिश्रियन्, तथापि सत्यं नयवर्त्म विलोचनानि सम्मील्य विचारयन्ताम् ॥३॥

व्याख्या—अमी=तीर्थान्तरीयतया दूरवर्त्तिनः, परे=अन्ये, त्वदुक्ताश्रद्धालवः, गुणेषु=सर्वज्ञत्ववीतरागत्वाऽऽप्तत्वादिरूपत्वन्मात्रवृत्तिसर्वोत्तमभावेषु, गुणपदवाच्यतया प्रसिद्धेषु च प्रशस्यवस्तुधर्मेषु, असूयाम्=दोषाऽऽरोपणात्मकमनोवृत्तिम्, यद्यपि गुणेषु दोषाऽऽरोप एवाऽसूयेति गुणेष्विति पदमत्राऽधिकम्, तथापि "सकीचकै र्मारुतपूर्णरन्ध्रैरि" त्यादिवद्विशेषणसन्निधाने विशिष्टवाचकपदस्य विशेषणमात्रपरत्वात्समाधानीयम् । दधतः=भजन्तः, ईशम्=प्रत्युपकारनिर-

पेक्षतयोपदेशादिनोपकारकारितया स्वामिनमिव स्थितम्, भवन्तम्= त्वा जिनेश्वरम्, नामेति वाक्याऽलङ्कारे, प्रसिद्धौ वा, अकारणवत्सलत्वेनेनेत्येव प्रसिद्धमित्यर्थ । स एव हि स्वामी, यो निरपेक्षमुपकरोतीति भाव । मा शिश्रियन्=नाऽऽश्रयन्तु, अत्र गुणदूषका हि गुणाढ्य कथमाश्रयन्त्विति क्षेपो व्यन्यते । यथार्थविचारणा तु सर्वैरेव कर्तव्या, अन्यथा ह्यसत्प्रलापी स्यादित्याह—तथापि=गुणेष्वसूया दधतोऽपि, सत्यम्=दोषरहितत्वेन वास्तवम्, नयवर्त्म=युक्तिपद्धतिम्, विलोचनानि=नेत्राणि, सम्मील्य=मुद्रितानि कृत्वा, उपलक्षणत्वात्क्षण गुणदूषणलक्षण चाञ्चल्य विहायेत्यर्थ । स्थिरमनोवृत्त्येति यावत् । अन्यथा विक्षेपसम्भवादिति भाव । नेत्रे निमील्य विचारयेति लोकोक्तिरत्र सद्गृहीतेति बोध्यम् । विचारयन्ताम्=पर्यालोचयन्ताम् । अत्राऽऽत्मनेपदप्रयोगेण तद्दशविचारेण स्वस्यैव यथार्थज्ञानरूप फलमिति सूच्यते । तथा 'नयवर्त्म सत्यमि' त्युक्त्या जिनोक्तनयरीतिरेव यथार्थेत्यपि भङ्ग्या ध्वन्यते । एव च स्थिरमनसा विचारे सत्य नयवर्त्म प्राप्स्यन्ति, तच्च त्वदुक्तान्नाऽन्यदिति तदाश्रयणेऽन्ततस्त्वामाश्रयिष्यन्त्येवेति परमार्थतस्त्वमेवाऽऽसो भवसि सर्वमुख्य इति भाव । गुणाना दूषका भवन्तु समर्थका वा, यथार्थविचार तु कुर्वन्तु, अन्यथा दूषणसमर्थनयोरसारत्वाऽऽपत्ते । तथा चाऽत्र विचारयन्तामिति पञ्चमीप्रयोगेणाऽविचार्यैव दूषका परे, अतो भवन्त न श्रयन्तीत्यपि सूच्यते ॥३॥

ननु विचारे कृतं पराऽपेक्षयेत्यतः स्वयं तत्र प्रवर्त्तमानः सम्प्रति पदार्थानां सामान्यविशेपात्मकत्वं भगवदुक्तमन्यमतनिरसन-पूर्वकं समर्थयति—

स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो
भावा न भावाऽन्तरनेयरूपाः ।
परात्मतत्त्वादतथाऽऽत्मतत्वाद्
द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥४॥

अन्वयः—भावाः स्वतः अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः, भावान्तर-नेयरूपाः न; परात्मतत्त्वाद् अतथात्मतत्त्वाद् द्वयं वदन्तः अकु-शलाः स्खलन्ति ॥४॥

व्याख्या—भावाः=घटादयः पदार्थाः, स्वतः=स्वयमेव, इतरम-नपेक्ष्यैवेति यावत् । अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः=अनुवृत्तिः घटा-दिषु प्रत्येकं 'घटः' 'घटः' इत्यादिरूपेण समानाकारा प्रतीतिः, साच, व्यतिवृत्तिर्व्यावृत्तिः, घटादिपु एप घटोऽन्यस्माद्धटात्पटादेश्च भिन्न इत्यादिप्रकारा प्रतीतिः, सा चाऽनुवृत्तिव्यतिवृत्ती, ते भजन्ति विपयितयाऽऽश्रयन्तीत्यनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः, अनुवृत्तिव्यावृत्त्युभय-प्रतीतिविपया भवन्तीत्यर्थः । पदार्थाः सामान्यविशेपोभयात्मका इति तात्पर्यम् । यदि हि पदार्था उक्तरूपा न स्युः कथं तर्हि घटादिदर्शनमात्रेणाऽ'यं घटो न पट' इत्येवमादिरूपेतराऽनपेक्ष-

णेनैव प्रतीतिः स्यादिति भावः । ननु घटः=घटो न पटः इत्येव प्रतीतिः सार्वजनीनेति न किमप्यपूर्वं भवतोच्यत इति चेत्तत्राऽऽह—भावान्तरनेयरूपाः=अन्यो भावो भावान्तरम्, तेन नेयं ज्ञानविषयीकरणीयं रूपं येषां ते तादृशाः, इतरसापेक्षप्रतीतिविषया इत्यर्थः । न=नैव, सन्तीति शेषः । अयमभावः = नैयायिकाः—'घटे'ऽयघटो न पटः' इति ज्ञाने घटत्वादिरूपं सामान्यम्, नित्येषु घटपरमाणोरन्यघटपरमाणौ पटादिपरमाणोश्च परस्परमाकाशाऽऽत्मादिषु च भेदज्ञाने च विशेषाख्यं पदार्थं कारणं मन्यन्ते । विशेषेषु च परस्परं स्वत एव भेदः, अवयवभेदाच्च घटादिषु घटान्तरादेर्भेद इति च स्वीकुर्वन्ति । घटत्वादिकं च सामान्यं घटादेः, विशेषश्च परमाण्वादेर्भिन्न इत्येव प्रतिपादयन्ति । ततश्च तत्सम्मतेषु सप्तसु पदार्थेषु मध्ये सामान्यं विशेषं च पृथग्गणयन्ति । तदेव तेषां मते घटादयः पदार्थाः स्वभिन्नेन घटत्वादिपदार्थेन ज्ञायन्ते इति पर्यवस्यति, तन्नेतितात्पर्येणैव भावाः सामान्यविशेषात्मकाः इति, विधानमिति भावः । एवं वदितारोऽकुशलाः इति हेतुगर्भमाह—परात्मतत्त्वात्=परं भिन्नम् आत्मतत्त्वं स्वरूपं यस्य तत्तथा, परात्मतत्त्वम्, तस्मात्, तत्स्वीकृत्येत्यर्थः । अत्र ल्यपो गम्यत्वात् "गम्ययप कर्माऽऽधारे" (२।२।७४॥ सि हे) इति पञ्चमी । वस्तुतस्तु तन्न तथेत्याह-अतथात्मतत्त्वात्=अविद्यमानं तथा तादृशं भिन्नमात्मतत्त्वं यस्य तत्तथाभूतात्, वस्तुतोऽभिन्नादित्यर्थः । तत्र च हेतुः "स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः" इत्युक्त एव । तथाहि—यदि घटादे-

घटत्वादिकं भिन्नं स्यात्तर्हि घटादिदर्शने प्रथमं घटत्वज्ञानम्, ततश्चाऽयं घटो न पट इति विशेषज्ञानं च क्रमेणैव स्यात्, न च तथा प्रतीतिः, घटदर्शनमात्रेणैवाऽयं घटो न पट इति प्रतीतेर्विना विलम्बं जायमानत्वात्, तस्मात्पदार्थादभिन्न एव कथञ्चित् सामान्यादि न तु भिन्नः, अतः स्वयमेव घटादिपदार्थः प्रतीति-विषयो भवति, एवञ्च कथञ्चिदभिन्नमप्येकान्तेन भिन्नं प्रकल्प्य, द्वयम्= अनुवृत्तिव्यति वृत्तिप्रतीतिहेतुभूतसामान्यविशेषद्वयम् एकान्तेन भिन्नम्, वदन्तः=प्रतिपादयन्तः, अकुशलाः=पदार्थतत्त्वज्ञानाऽपटवः, अत एव, स्खलन्ति=न्यायच्युता भवन्ति, यथा हि मार्गे गच्छन् दृष्टिपूतपाद-न्यासमकुर्वन् स्खलितो दयापात्रमपि प्रमादित्त्वाऽनुबन्धाद् लोकपरिहास-विषय एव भवति, तथा पदार्थविषये युक्तिविरुद्धं प्रतिपादनं परिहासविषय एवेति । ननु कथमेक एव पदार्थो मिथोविरुद्धसामान्यविशेषोभयात्मकः स्यादिति चेत्?, अयं घटो न पट इत्यादिरूपेण सामान्यविशेषयोरुभयो र्घटादिदर्शने युगपत्प्रतीतेरेव, तयोः परस्परमविरुद्धत्वनिश्चयात् । नहि-शीतोष्णते विरुद्धे युगपदेकत्र प्रतीयेते इति भावः ॥४॥

ननु सामान्यं घटत्वादिकं नित्यम्, विशेषश्च घटादिरनित्यः, नित्यत्वाऽनित्यत्वयोश्च परस्परपरिहारेणैव स्थितेः कथमेकस्योभयात्मकत्वं भविष्यतीति चेन्न, तदाह—

आदीपमाव्योम समस्वभावं
स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु ।

तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य-
दिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥५॥

अन्वय —आदीपम् आव्योम वस्तु समस्वभावम् स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि, तद् एक नित्यमेव अन्यदनित्यमेव इति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥५॥

व्याख्या—आदीपम्=दीपादारभ्य, दीपेत्येकान्ताऽनित्यपदार्थोपलक्षणम्। आव्योम=व्योमपर्यन्तम्, व्योमेत्येकान्तनित्यपदार्थोपलक्षणम्। एकान्तेन नित्याऽनित्यता चाऽत्र परमते, न तु स्वमते, तदाह—वस्तु=सत्पदार्थः। पराभिमतमेकान्तेन नित्यमनित्यं च सर्वमेव वस्त्वित्यर्थः। समस्वभावम्=समस्तुल्यः स्वभावो लक्षणं यस्य तत्तथा, उत्पादव्ययध्रौव्यैकलक्षणम्, द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयद्वय-विषयत्वादिति भावः। तथाहि—दीपाणवो विध्याता पूर्वोत्पन्नतेजः-पर्यायं मुक्त्वा तमःपर्यायं गृह्णन्ति, पुद्गलरूपेण चोभयदशायां तिष्ठन्ति, एवञ्च ते द्रव्यरूपेण नित्यत्वलक्षणध्रौव्यम्, पर्यायरूपेणाऽनित्यता-लक्षणमुत्पादविनाशौ च प्राप्नुवन्तीति स्पष्टम्, एवमेवाऽन्यत्राऽप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वं समर्थनीयम्। एवञ्चाऽपेक्षाभेदेन नित्यत्वाऽनित्यत्वयोरेकत्र विरोधोऽपि न, यथा चैकस्मिन्नेव घटे कालभेदे-नोत्पादो विनाशश्च द्वयमविरुद्धमित्यनुभूतमेव। अतो येन रूपेण ध्रौव्यं तेनैव रूपेणोत्पादव्ययासत्त्वे, यदैवोत्पादस्तदैव काले तद्-

स्तुनि व्यये च विरोधो न त्वपेक्षाभेदे कालभेदे चेति व्यक्तमेव । ननु तमो न पुद्गलपर्यायः, किन्तु तेजोऽभाव इति चेन्न । तमसः सत्त्वेनोपलम्भात्, अत्र तमोऽस्तीति प्रतीतेराबाल्गोपालं सत्त्वात् । अन्यथाऽत्र तेजोऽभावोऽस्तीतिप्रतीतिः स्यात् । न च तथा प्रतीतिस्तमस्विगृहादौ भवत्येवेति वाच्यम् । तादृशप्रतीतेस्तमःसत्त्वे एवाऽऽत्मलाभात्, पटसत्त्वे घटाऽभावप्रतीतिवत् । नाऽपि तमःप्रतीति र्भ्रान्तिः, उत्तरकालं बाधज्ञानाऽनुदयात् । तस्मात्तमसः पुद्गलपर्यायत्वम्, अधिकमन्यत्राऽनुसन्धेयम् । एवं व्योमाऽप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् । तथाहि—अवगाहो लक्षणं व्योम्नः, अवगाहश्चाऽवगाहकद्रव्यसंयोगः, अवगाहकस्य देशान्तराऽवगाहे च पूर्वाऽवगाहनाश इत्यवगाहरूपपर्यायरूपेण व्योम्न्युत्पादव्ययौ, व्योम, व्योमेत्यनुगतप्रतीत्या च ध्रौव्यमपि तत्र । एवञ्च वस्तुमात्रं नित्याऽनित्यं सामान्यविशेषात्मकं च, न त्वेकान्तेन नित्यादिरूपम् । अत एव, **स्याद्वादमुद्रानतिभेदि**=स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् । तथा वादः स्याद्वादः, नित्याऽनित्याद्यनेकधर्मात्मकैकवस्तुस्वीकार इति यावत् । तस्य या मुद्रा लाञ्छनं स्यात्पदरूपम्, तां नाऽतिभिनत्ति नाऽतिक्रामतीति तथा । वस्तु केनाऽपि शब्देन कथञ्चिदेव प्रतिपाद्यते, यतस्तस्याऽनेकधर्मात्मकत्वेन प्रकारान्तरस्याऽपि सम्भवात् । यथा—स्यात्सन् घटः । नतु घटः सन्नेव, पटरूपेणाऽसत्त्वस्याऽपि तत्र सत्त्वादिति भावः । एवञ्च वस्तुनः प्रस्तुतं सामान्यविशेषात्मकत्वं नित्याऽनित्यात्मकत्वं च निष्प्रत्यूहमेवेति स्थि-

तम् ।। तत्=तस्माद्वस्तुन स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदित्वाद्धेतो, एकम्=व्योमादि, नित्यम्=अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपम्, एवेत्यवधारणे । अन्यत्=प्रदीपादि, अनित्यम्=उत्पादविनाशवदेव, इति=इत्थप्रकारा उक्तय, त्वदाज्ञाद्विपताम्=तव जिनेन्द्रस्याऽऽज्ञा देशनावचन शासन या द्विपन्ति द्वेपविपय कुर्वन्तीति ते, तादृशास्तेपाम्, त्वदानाऽननुवर्तिनामित्यर्थ । प्रलापा.=अनर्थकवचासि । "प्रलापोऽनर्थक वच" इत्यमर । पूर्वोक्तरीत्या वस्तुनोऽनेकधर्मात्मकत्वोपपादनादेकान्तपक्षस्य प्रतिपाद्याऽर्थाऽभावादिति भाव । अत्र द्विपतामिति पदेन, यतो द्विपन्त्यत प्रलपन्ति, द्वेपाद्धि जना कदाग्रहात्सत्यमप्यपलपन्ति, असत्यमपि प्रतिपादयन्ति । यत स्वयमेव तै पृथिव्यादावेकत्रैव वस्तुनि परमाण्वात्मनि नित्यत्वस्य कार्यरूपे चाऽनित्यत्वस्य स्वीकारादिति हृदयम् ॥५॥

ननु जगत नित्यम्, किन्तु कार्यमेव, सावयवत्त्वाद्घटादिवत् । ईश्वरश्च तत्कर्ता, कार्यत्वाऽन्यथाऽनुपपत्तेरितिचेत्तत्राऽऽह—

कर्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः स चैक
स सर्वग स स्ववश स नित्यः ।
इमा कुहेवाकविडम्बना स्यु
स्तेषा न येषामनुशासकस्त्वम् ॥६॥

अन्वय —जगत कर्ता कश्चिदस्ति, स एक, स सर्वग, स

स्ववशः, स नित्यश्च । इमाः तेषां कुहेवाकविडम्बनाः स्युः येषां त्वम
अनुशासकः न ॥६॥

व्याख्या —जगतः=तदाख्यस्य महाभूतप्रपञ्चस्य, स्वमते तु धर्मोऽ-
धर्माऽऽकाशजीवपुद्गलात्मकस्येति बोध्यम् । कर्त्ता=जनकः, कश्चित्=
अनुपलभ्योऽनुमानगम्यः, अस्ति=वर्त्तते, अस्यैकादावप्यन्वयो बोध्यः ।
यतो जगत्कार्यं सावयवत्वादनस्तस्य कर्त्ता कोऽप्यस्त्येव, कर्त्तारं
विना कार्याऽभावादिति भाव. । सः=अनुमितः कर्त्ता, एकः=
असहायोऽद्वितीयो वा । अनेकत्वे प्रमाणाऽभावाद्, स्वतन्त्रेषु तेषु
बहुषु सत्सु कार्ये विरूपत्वविशृङ्खलत्वयोरापत्तेश्च । ननु तेष्वेको
मुख्य इति नोक्तदोषः, मुख्यस्य सर्वनियामकत्वादितिचेत्, तर्ह्येक
स मुख्य एव कर्त्ताऽस्तु, अलं बहुभिरिति भावः । नन्वेक
एकत्रैवैककाले कार्यं कुर्यादिति तत्काल एवाऽन्यत्र तादृशकार्यार्थं
तादृशोऽन्यः कर्त्ताऽऽवश्यक इति चेत्तत्राह—सः=कर्त्ता, सर्वगः=
सर्वं गच्छति जानाति व्याप्नोति च स तादृशः, व्यापक
सर्वज्ञश्चेत्यर्थः । नह्यज्ञाने कार्यसम्भव इति भावः । एवञ्च न
कर्त्रन्तराऽऽवश्यकतेति हृदयम् । तथा, सः=कर्त्ता, स्ववशः=
अन्येच्छाऽनधीनः । अन्यथाऽन्येच्छाऽभावे कार्यविघ्नापत्तेरिति भावः ।
तथा, सः=कर्त्ता, नित्यः=अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूपः । तस्याऽपि-
जन्यत्वेऽनवस्था स्यादिति स नित्य एव मन्यते इति भावः ।

तथा, स=कर्त्ता, नित्यः=अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूप । तस्याऽपि जन्यत्वेऽनवस्था स्यादिति स नित्य एव मन्यते इति भाव । एवञ्च स्याद्वादिष्टोऽनेकान्तपक्षो दुष्यतीति चेन्न । तदाह–इमाः=प्रतिपादिता जगत कार्यत्वादिरूपा, तेषाम्=तादृशानाम्, कुहेवाकविडम्बना:=कुहेवाका कदाग्रहा एव विडम्बना प्रमाणरहितत्वेनाऽसद्व्यापारा, स्युः=भवेयु, तेषा केषामित्यत आह–येषाम्=यादृशानाम्, त्वम्=भवान् जिनेन्द्र, अनुशासकः=उपदेष्टा, न=नाऽसीत्यर्थ । त्वदनुशासन ये नाऽनुवर्त्तन्ते तेषामिति यावत् । त्वदनुशासने जगत्कर्तुरस्वीकाराच्चत्कर्त्रादिकल्पनाया विडम्बनामात्रत्वात्, परमाण्वाकाशजीवादीना नित्यत्वस्य सर्ववादिसम्मतत्वात्कर्मवशत एव शरीरोत्पादादिसर्वविधकार्याणा सम्भवाच्चकर्तु स्वीकाराऽनावश्यकत्वात् । कर्तुरसिद्धौ च तदेकत्वादिविचारो 'मूल नाऽस्ति कुत शाखे' तिन्यायेनाऽनवसरग्रस्त एवेति भाव ॥६॥

उक्तरीत्या भावाना सामान्यविशेषात्मकत्व समर्थ्य तदस्वीकारे धर्मधर्मिव्यवहारविलोपप्रसङ्ग इत्याह—

न धर्मधर्मित्वमतीव भेदे
वृत्त्याऽस्ति चेन्न त्रितय चकास्ति ।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ
न गौणभेदोऽपि च लोकबाध ॥७॥

अन्वयः—अतीवभेदे धर्मधर्मित्वं न, वृत्त्या अस्ति चेत्, त्रितयं चकास्ति, इहेदमितिमतिः वृत्तौ च अस्ति, न गौणभेद अपि, लोकबाधश्च ॥७॥

व्याख्या—अतीवभेदे=सामान्यविशेषयोरेकान्तेन भेदस्वीकारे, धर्मधर्मित्वम्=धर्मश्च धर्मी च तयो र्भावः, अस्य घटादेर्धर्मिणि इ घटत्वादिकं धर्म इत्येवं धर्मधर्मिभावइत्यर्थः । न=नैव, स्यादि शेषः । अयम्भावः–अन्ये– घटादेर्धर्मिणो घटत्वादेर्धर्मस्यैकान्ते भेदं मन्यन्ते, तदयुक्तम् । एकान्तेन भेदेऽपि धर्मधर्मिभावे घ पटत्वादेरपि तथात्वापत्तेः । भेदस्य तत्राऽपि सत्त्वात् । सम्बन्धस तन्नियामकत्वमाशङ्कमान आह–वृत्त्या=सम्बन्धेन, समवायादिनेत्यर्थः अस्ति=धर्मधर्मिव्यवहारो भवति, चेद्=यदि, घटादीनां न पटत्व दयो धर्माः, किन्तु घटत्वादय एव, समवायादिसम्बन्धस्य त नियामकत्वात् । यस्य येन सम्बन्धस्तयोरेव धर्मधर्मिव्यवहारात् तथा च न दोषः । घटादौ पटत्वादेः सम्बन्धाऽभावादि चेदिति पूर्वपक्षाशयः । उत्तरयति–त्रितयम्=धर्मधर्मिसम्बन्धरू त्रयम्, न=नैव, चकास्ति=प्रतिभासते । घटादिप्रत्यक्षे घटघ त्वादीनामेव प्रतिभासो जायते, न तु सम्बन्धस्याऽपि, तस्मा धर्मधर्मिभावस्य सम्बन्धो नियामकः, तस्याऽप्रतिभासनेनाऽसत्त्वाऽ मानात् । एवं चैकान्तेन भेदे धर्मधर्मिव्यवहाराऽसम्भव इ भावः । नन्विह कपाले घट इत्येवमिहेदमिति प्रतीतिरेव धर्

धर्मिणो सम्बन्धमवगमयति, विशिष्टप्रतीतेः सम्बन्धाऽविनाभावित्वात्, तत्कथं न तत्प्रतिभासनमिति चेत्तत्राऽऽह–इहेदमितिमतिः=इह–कपालादौ इदं घटत्वादिकमित्येवंप्रकारा बुद्धिः, चो हेतौ, वृत्तौ=समवायादिसम्बन्धेऽपि, यतः सम्बन्धेऽपीहेदमितिप्रतीतिरतः सा प्रतीतिर्न सम्बन्धसाधिका । तथाहि–यदीहेदमितिप्रतीतिबलाद्धर्मधर्मिणोः सम्बन्धः कल्प्यते, तदा समवायादौ सम्बन्धेऽपि 'इह समवाये घटत्वादिसम्बन्धः' इत्यादिप्रतीतेस्तत्राऽपि सम्बन्धः कल्पनीयः स्यात् । एवञ्च सम्बन्धेऽपि सम्बन्धस्वीकारेऽनवस्थापत्तिरिति भावः । ननु तस्यैव सम्बन्धेऽपि सम्बन्धः, किन्तु सम्बन्धस्य स्वस्वरूपेणैव क्वाऽपि वृत्तिरिति स स्वरूपानतिरिक्तत्वाद्गौणः, अतस्तत्र न सम्बन्धव्यवहारः, प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्तीति न्यायात् । अतश्च नाऽनवस्थेति चेन्न । तदाह–गौणभेदः=अयं मुख्योऽयं गौण इत्येवंभेदः, नाऽपि=नैव, अस्तीति शेषः । उभयत्र सम्बन्धत्वे तुल्ये एकः प्रधानमपरो गौण इतिप्रतिपादयितुमयोग्यम् । नहि ब्राह्मणे ब्राह्मणत्वं मुख्यम्, तत्सुते च गौणं भवति । तथा घटे घटत्वस्य सम्बन्धो मुख्यश्चेद्घटे घटत्वसम्बन्धस्याऽपि सम्बन्धो मुख्य एव भवेत् । वैषम्ये बीजाऽभावादिति भावः । कथञ्चिद्गौणमुख्यकल्पनायामपि न निस्तार इत्याह–अपि च=किञ्च, लोकबाधः=लोकैन लोकप्रतीत्या बाधो विरोधो, जायते इतिशेषः । नहि लोकाः 'इह कपाले घटः' इत्येवं प्रतियन्ति, किन्तु घटे

कपाल इत्येवमेव । न च घटे कपाल इतिप्रतीतिरपीहेदमिति-प्रतीतिरेव, तथा च कथं लोकबाध इति वाच्यम् । लोके हि घटे कपालस्तादात्म्येनैव प्रतीयते, न तु केनाऽपि सम्बन्धेन, बालगोपालादीनां तादृशसम्बन्धव्युत्पत्तेरेवाऽभावात् । एवं च यथा तेषा सम्बन्धं विनैव प्रतीतिस्तथा भवत्वन्येषामपीति सम्बन्धस्यैव शशशृङ्गायमाणत्वात्कथं तद्बलाद्धर्मधर्मिव्यवहारः सम्भवेत् ?, तस्माद्धर्मधर्मिणोः सामान्यविशेषयोश्च तादात्म्यमेव, नतु भेदः । न च तयोरभेदस्वीकारेऽस्यायं धर्म इति भेदेन व्यवहारस्त्वत्पक्षेऽप्यनुपपन्न एवेति वच्यम् । तथा व्यवहारबलात्कथञ्चिद्भेदस्याऽपि स्वीकारात् । त्वत्सम्मत एकान्तेन भेदपक्ष एव निराकरणविषयो न तु कथञ्चिद्भेदपक्षोऽपि । कथञ्चिद्भेदाऽभेदस्यैवोक्ताऽनुपपत्तिपरिहारसमर्थतयेष्टत्वादिति भावः ॥७॥

यच्चाऽऽहुः परे—सामान्यं द्विविधम्, परं सत्ताऽपरं द्रव्यत्वादि । सा च सत्ता द्रव्यगुणकर्मसु त्रिष्वेव, न सामान्ये, अनवस्थापत्तेः, नाऽपि नित्यद्रव्याणा परस्परव्यावर्त्तकेऽनवस्थापत्तिभिया स्वतो व्यावृत्ते विशेषे, स्वतो व्यावृत्तत्वस्य तद्रूपस्य हान्यापत्तेः, सामान्यस्यैव तत्राऽपि व्यावर्त्तकत्वसम्भवात् । न चाऽपि समवाये, यतः समवाये सामान्यं समवायान्तरेण स्यात् । न च समवायाऽन्तरमस्ति । तस्मात्त्रिष्वेव सामान्यमिति न सामान्यविशेषयोरभेदसम्भव इति । तदेवमादि दूषयति—

सतामपि स्यात्क्वचिदेव सत्ता
चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत् ।
न संविदानन्दमयी च मुक्तिः
सुसूत्रमासूत्रितमत्त्वदीयैः ॥८॥

अन्वय —सत्ता सतामपि क्वचिदेव स्यात् ?, आत्मन चैतन्य मौपाधिकमन्यत् ?, मुक्ति संविदानन्दमयी न च ?, अत्वदीयै सुसूत्रमासूत्रितम् ! ! ! ॥८॥

व्याख्या—सत्ता=सत्सदित्यनुवृत्तिप्रत्ययहेतु सत्ताख्य पर सामान्यम्, सताम्=सन्तिप्रतीतिविषयाणा पदार्थानाम्, अपिर्विरोधे, क्वचिदेव = केषाञ्चिद्द्रव्यगुणकर्मणामेव, न तु सर्वेषाम्, स्यात् ?= भवेत् ?, काकुरयम् । अपि तु सर्वेपामेव स्यादिति ध्वनि । तत्र युक्तिश्च सतामपीति साभिप्रायपदेनैव सूचिता । सता भावो हि सत्ता सत्सु चेन्न स्यात्तर्हि सत्त्वं न स्यात् । यो हि यद्भाव स तत्रैव भवति । एवञ्च सामान्यस्य सर्वत्रैव पदार्थे सत्त्वात्, विशेषस्य च स्वतोव्यावृत्तत्याऽनुना पदार्थान्तरभूतस्य फलाऽभावात्स्वीकारात्, व्यावृत्तिप्रत्ययविषयतया सर्वस्यैव च विशेषात्मकत्वात्सामान्यविशेषयोरभेदे न किमपि बाधकम् । सम्प्रति पराभिमतस्याऽऽत्मचैतन्ययोर्भेदस्य विभेदाय प्रथम तदुपन्यस्यति–आत्मनः= आत्मसम्बन्धि, चैतन्यम्=चेतनस्य भाव, ज्ञानमित्यर्थ, । औपाधिकम्=शरीररूपोपाध्यवच्छिन्नम् । अन्यथाऽऽत्मनो व्यापकत्वेन

घटादेरपि सचेतनत्वापत्तेः । अतः शरीरे एवाऽऽत्मनि ज्ञानोत्पत्तिरिति शरीरं चैतन्यावच्छेदकमिति भावः । अतएव, अन्यत्= आत्मनो भिन्नम् । अन्यथाऽऽत्मनोऽपि सोपाधिकत्वापत्तिः, चैतन्यनाशे नाशापत्तिश्च स्यादिति भावः । ननु तर्हि मुक्तिदशायां शरीररूपोपाधिविरहादात्मनो निश्चेतनत्वापत्तिरिति चेत् , चैतन्यस्य सोपाधिकत्वोपपत्तिबलान्मुक्तावात्मनो निश्चेतनत्वस्येष्टत्वात् । तदेवाह— **मुक्तिः**=मोक्षः, **संविदानन्दमयी**=संविज्ज्ञानम्, सा च, आनन्दश्च, तौ प्रकृतौ यस्यां सा, तादृशी, **न**=नैव, सविदानन्दशून्य इत्यर्थः । **चो** हेतौ,यत आत्मनोऽन्यच्चैतन्यमतो मोक्षे आत्मनः स्वरूपेणाऽवस्थानान्न तत्र ज्ञानमानन्दो वेति भावः । तदेतत्सर्वं निर्युक्तिकतयोपहसन्नाह—**अत्वदीयैः**= त्वदाज्ञाऽननुवर्तनात्त्वत्सम्बन्धरहितैः परैः वैशेषिकैः, **सुसूत्रम्**=सूत्रणस्य निर्युक्तिकत्वेन मुख्यार्थबाधाद्वैपरीत्यलक्षणसम्बन्धेन लक्षणयोत्सूत्रमित्यर्थः । अप्रमाणमिति यावत् । परिहासाऽतिशयश्च व्यङ्ग्यः । **आसूत्रितम्**=सन्दृब्धम् ॥८॥

ननु त्वत्कथनं निर्युक्तिकमिति वचनमात्रेण न कस्याऽपि कथनं निर्युक्तिकं भवति, किन्तु तथाविधयुक्त्युपन्यासेनेत्यतस्तादृशीं युक्तिं प्रदिदर्शयिपुरात्मनो व्यापकत्वाश्रयेणैव परोक्तिप्रवृत्तेस्तदेव निराकरोति—

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र
कुम्भादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत् ।

तथापि देहाद्बहिरात्मतत्त्व-
मतत्त्ववादोपहता पठन्ति ॥९॥

अन्वय —यो यत्र दृष्टगुण स तत्रैव, कुम्भादिवत् । निष्प्रति-पक्षमेतत् । तथापि अतत्त्ववादोपहता आत्मतत्त्व देहाद् बहि पठन्ति ॥९॥

व्याख्या —'य'=पदार्थ, यत्र=यस्मिन् देशे, दृष्टगुण'=दृष्ट उप-लब्धो गुण उपकारो यस्य स तादृश, दृष्टोपकार इत्यर्थ, अर्थ क्रियाकारीति यावत् । स =पदार्थ, तत्र=तस्मिन् देशे, एवेत्य वधारणे, स च भिन्नक्रम । नाऽन्यत्रेति फलितार्थ । तत्र दृष्टान्तमाह–कुम्भादिवत्=घटादिवत् । गृहेऽर्थक्रिया कुर्वन् घटादि-र्गृह एव वर्त्तमानो भवति, न तु बहि । अर्थक्रियाऽभावे वस्तुन सत्त्वस्य शशशृङ्गादिवद्वाभिलासमानत्वात् । एवञ्चाऽऽ-त्मा शरीरमात्रवृत्ति, तत्रैव दृष्टगुणत्वात् । यो यत्र दृष्टगुण, स तत्र वृत्ति, घटादिवदित्यनुमानादेवाऽऽत्मनोऽव्यापकत्व सिद्ध्यति । तथा चाऽऽत्मनो व्यापकत्वमूलक चैतन्यस्य शरीरोपाधित्व मोक्षस्य चिदानन्दस्वरूपताभावश्च 'मूल नास्ति कुत शाखा' इतिन्या येनाऽनवसरग्रस्ते । नचाऽत्रानुमाने हेत्वाभास इत्याह–एतद्=उपद र्शितमनुमानम्, निष्प्रतिपक्षम्=गमप्रतिपक्षम्, प्रतिपक्षान्निष्क्रान्तमि त्यर्थ, दोषाऽभावाद्धेतुरनिति यावत्। प्रत्यक्षेणैव तादृशात्मसिद्धात्र

त्यक्षस्य च बाधाऽयोगादिति भावः । एवञ्च परेषामात्मनो व्यापकत्ववर्णनमज्ञानविजृम्भितमेवेत्याह—तथापि=प्रमाणेनाऽऽत्मनोऽव्यापकत्वसिद्धावपि, अतत्त्ववादोपहताः=अतत्त्वस्याऽयथार्थस्य वादः स्वीकारः, तेनोपहता नष्टबुद्धयः परे, आत्मतत्त्वम्=आत्मरूपं पदार्थम्, देहाद्=शरीराद्, बहिः=अन्यत्राऽपि देशे, पठन्ति=कथयन्ति, आत्मानं व्यापकं कथयन्तीति यावत् । अत्र पठन्तीत्यनेन शुकादिवत्तदात्त्वं जडतयाऽबुद्ध्वैव रटन्ति, न तु तत्र मननमपि कुर्वन्तीत्यज्ञानाऽतिशयस्तेषां सूच्यते । एवञ्चाऽऽत्मनोऽव्यापकत्वसिद्धौ चैतन्यस्य घटादावप्रसङ्गान्न शरीरोपाधिकत्वम्, एवञ्च मोक्षे चैतन्यसत्त्वे न किमपि बाधकम्, चैतन्यस्याऽऽत्मोपादानत्वान्निरुपाधिकत्वादात्मनश्च मोक्षे सत्त्वादिति हृदयम् ॥९॥

तदेवं वैशेषिकाद्युक्तं सयुक्ति निराकृत्य परवादिनिग्रहाय तैः कृतं छलादिनिग्रहस्थानोपदेशं सोल्लुण्ठनोक्त्योपहसति—

स्वयं विवादग्रहिले वितण्डा-
पाण्डित्यकण्डूलमुखे जनेऽस्मिन् ।
मायोपदेशात्परमर्म भिन्द-
न्नहो ! विरक्तो मुनिरन्यदीयः ॥१०॥

अन्वयः—स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे अस्मिन्

जने मायोपदेशात्परमर्म भिन्दन् अहो ! अन्यदीयो मुनि-विरक्त ॥१०॥

व्याख्या —स्वयम्=आत्मनैव, उपदेश विनैवेत्यर्थ । विवाद-ग्रहिले=विवादो विकथा, स्वमतस्य सदसद्विवेकाऽनाश्रयेण समर्थनमिति यावत् । तत्र ग्रहिल कदाग्रही, तस्मिन्, विवादप्रिये इत्यथ । विवादस्य विशिष्टवादार्थकत्वनिराकरणहेतुसूचनगर्भं विशेषणान्तरमाह–वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे=वितण्डा स्वमतस्थाप-नाऽनपेक्षपरमतखण्डनाऽऽग्रह, तत्र यत्पाण्डित्य नैपुण्य तस्मात्तद-भिमानात्, कण्डूल भाषणलम्पट मुख यस्य तादृशे, परमत यथा-कथञ्चिन्निराकरिष्याम्येवेतिदुरभिमानेनाऽनिवारणीय भाषण यस्य तादृशमुखे इत्यर्थ । कण्डूर्ह्युत्पन्ना यथा घर्षणेनैव शाम्यति, नाऽप्युपेक्षितु शक्या भवति । तथा परस्य वितण्डापण्डितस्य भाषणलम्पट मुख न मुद्रितु शक्यत इति भाव । अस्मिन्=अनुभूयमाने, जने=लोके विषये, मायोपदेशात्=मायाया छला-दीना निग्रहस्थानादीनामुपदेशाद् उपदेश विधाय, परमर्म=पर-स्य प्रतिवादिनो मर्म सिद्धान्तमूलहेतुम्, भिन्दन्=दूषयन्, अहो !=सखेदमाश्चर्यं यत्, अन्यदीय=परैरनुसृत, मुनि=गौत-मादिमुनि, विरक्त=अप्रीत । कथमन्यथा पीतमद्ये मर्कटे भूतसञ्चारतुल्य वैतण्डिके छलादृयुपदेश कुर्यात् ? । अय भाव – गौतमेन हि " प्रमाणप्रमेयसशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्ताऽवयव-

तर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाऽधिगम" इत्युक्तम् । तदेतत्परवादिप्रयुक्तसद्युक्तिनिराकरणाऽसमर्थोऽप्रीतो जातः, पराजितो हि ग्लायत्येव । अत एव सदसद्विवेकमुपेक्ष्य यथाकथञ्चित्परवादी जेतव्य इति च्छलाद्युपादिशत् । न च छलाद्याचरणेन मुक्तिः, किन्तु भवपरम्परैवेति तदुपदेशस्तस्याऽप्रीतत्वं साधयति । स्वस्थस्य तथाऽऽचरणाऽभावादिति भावः ॥१०॥

तदेवं गौतमादीनामनाप्तत्वं सयुक्तिकं प्रतिपाद्य सम्प्रति जैमिन्यादिनां तत्प्रतिपिपादयिषयाऽऽह—

न धर्महेतुर्विहिताऽपि हिंसा
नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च ।
स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सा-
सब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम् ॥११॥

अन्वयः—विहिताऽपि हिंसा धर्महेतु र्न' न च अन्यार्थम् उत्सृष्टम् अपोद्यते, परेषां स्फुरितं स्वपुत्रघाताद् नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि ॥११॥

व्याख्या—विहिता=वेदादौ प्रतिपादिताऽपि, अपिना किमुताऽप्रतिपादितेति सूच्यते, हिंसा=प्राणव्यपरोपणम्, धर्महेतुः=शुभाऽदृष्टजनकम्,

न=नैव । ननु " प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसे " ति स्याद्वादिना स्वीक्रियते, प्रमादश्चाऽविहितत्वमेव, तत्कथं वेदे ' श्वेतं वायव्यमजमालभेत भूतिकामः,, इत्यादिना विहितायां हिंसायां प्रमादाऽजनितायां न धर्महेतुत्वमिति चेन्न । " न हिंस्यात्सर्वाणि भूतानी ' ति निषेधवाक्येन सामान्यतो हिंसायां दुर्गतिहेतुत्वाऽवगमात् । एवञ्च विहितायां हिंसायां प्रमादयोगाऽभावाद् धर्मजनकत्वमिति जैमिनीयाः शोचनीया एवेति भावः । ननु हिंसायां निषेधो विधानं च द्वयमपि वेदे एव, एवञ्च हिंसानिषेधरूपस्य सामान्यस्य विशेषविहिता हिंसाऽपवादिका स्यादिति चेन्नेत्याह—नच=नैव, उत्सृष्टम्=उत्सर्गतो विहितम्, सामान्यतो निहितमित्यर्थः । अन्यार्थम्=भिन्नविषयं सन् । अपोद्यते=विशेषेण बाध्यते । सामान्यस्य विशेषस्य च समानविषयत्वे एवोत्सर्गाऽपवादभावः, न तु भिन्नविषयत्वे, " उत्सर्गसमानदेशा अपवादा " इति न्यायात् । अन्यथा सर्वस्यैव सामान्यस्य सर्वो विशेषोऽपवादः स्यात् । अस्ति चाऽत्र सामन्यविशेषयोर्भिन्नविषयता । यतो ' न हिंस्यादि ' त्यादिवाक्यानि हिंसाया दुर्गतिहेतुत्वप्रतिपादनाय सामान्यतः प्रवृत्तानि, " श्वेतं वायव्यमि " त्यादीनि च वाक्यानि हिंसाया धर्महेतुत्वप्रतिपादनाय विशेषतः प्रवृत्तानीति द्वयोर्भिन्नविषयत्वस्य विस्पष्टतया नोत्सर्गाऽपवादभावः सम्भवति । न च न भिन्नविषयत्वम्, मृत्यादिहेतुतया तादृशहिंसावाक्यानां हिंसायां स्वर्गादिहेतुत्वनिषेधाधत्वादिति वाच्यम् । एवमपि निरागसां दोष प्रस्तुतेः पुनः

वत्परिपालनीयाना तेषां पशूना भूत्याद्यर्थमपि विवेकिनां सहृदयानामहिंस्यत्वात् । किञ्च भवतु तादृगहिंसया भूत्यादिप्राप्तिः, तथापि हिंसायाः सामान्यतो दुर्गतिहेतुत्वमपि स्यादेव, यदुक्तमीश्वरकृष्णेन "दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धक्षयातिशययुक्तः" इति, तदेतत्सर्वं मनसि कृत्वाऽऽह— **परेषाम्** = जैमिनीयादीनाम्, **स्फुरितम्** = हिंसया भूत्यादिप्राप्तिरूपप्रतिभोन्मेषः, **स्वपुत्रघातात्** = स्वपुत्रवधं विधाय, **नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि** = नृपतित्वस्य राज्यस्य या लिप्सा लब्धुमिच्छा तत्सब्रह्मचारि सदृशम्, यथा हि पुत्रवधेन राज्यलाभेऽपि पुत्रवधजन्यः शोको दुर्निवारः, शोकं प्रतीष्टवियोगस्य सामान्यतो हेतुत्वात्, तथा हिंसया भूत्यादिप्राप्तावपि दुर्गतिर्दुर्निवारा, हिंसायाः सामान्यतो दुर्गतिहेतुत्वादिति भावः ॥११॥

तदेवं जैमिन्यभिमतं निराकृत्य गौतमकणादजैमिनिसम्मतं ज्ञानस्य स्वतोऽग्राह्यत्वं निराकुर्वन्नाह—

स्वार्थाऽवबोधक्षम एव बोधः
प्रकाशते नार्थकथाऽन्यथा तु ।
परे परेभ्यो भयतस्तथापि
प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥१२॥

अन्वयः—बोधः स्वार्थाऽवबोधक्षम एव प्रकाशते, अन्यथा तु

अर्थकथा न, तथापि परे परेभ्यो भयत ज्ञानमनात्मनिष्ठ प्रपदिरे ॥१२॥

व्याख्या—बोधः=ज्ञानम्, स्वार्थावबोधक्षमम् =स्वस्य स्वरूपस्याऽर्थस्य विषयस्य चाऽवबोधे प्रकाशने क्षम समर्थ एव, न तु कस्याप्य समर्थ इत्यवधारणफलम् । यो हि प्रकाशको भवति, स स्वस्यान्यस्य च प्रकाशको भवति, यथा प्रदीपादि, अतो ज्ञान विषय प्रकाशयति चेत्स्वमपि प्रकाशयत्येव, स्वतोऽप्रकाशस्य घटादे परप्रकाशनाऽप्रसिद्धेरिति भाव । एवञ्च यज्ञेमिनीया आहु—" ज्ञान न स्व प्रकाशयति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, न ह्यसि स्व छेत्तु शक्त ", तस्माज्ज्ञानेनाऽथ प्रकाश्यते, अथप्रकाशश्च ज्ञान विनाऽनुपपन्न इत्यर्थापत्त्या ज्ञानमुपलभ्यत " इति । नैयायिकाश्चाऽऽहु—" ज्ञान मानसप्रत्यक्षाऽऽत्मकाऽनुव्यवसायप्रकाश्यम्, ईश्वरज्ञानभिन्नत्वे सति प्रमेयत्वात्, घटादिवदि " ति, तान् प्रत्याह—अन्यथा=ज्ञानस्य स्वार्थोभयप्रकाशकत्वाऽनङ्गीकारे, तु पूर्वस्माद्विशेषद्योतनार्थ, त विशेषमेवाह—अर्थकथा=पदार्थोक्ति, न=नैव, स्यादितिशेष । अयभाव,—ज्ञानस्य प्रकाशनेऽन्याऽपेक्षणे तत्प्रकाशनेऽप्यन्यापेक्षेत्यपेक्षाया अविरामादनवस्थापत्त्या ज्ञानप्रकाशनमेव दुर्लभमित्यर्थप्रकाशनमपि न स्यात् । ततश्च पदार्थबोधाभावे कुतस्तदुक्ति सम्भवेत् ? । शब्दव्यवहारे ज्ञानस्य कारणत्वात् । यदुक्त 'स्वात्मनि क्रियाविरोधादि' ति तन्न । नहि ज्ञान स्व प्रकाश

यति, अपि तु प्रकाशस्वरूपतया स्वयं प्रकाशते, यथा च दीपप्रकाशने न दीपान्तराऽपेक्षा, तथा ज्ञानप्रकाशने न ज्ञानान्तराऽपेक्षेति । नैयायिकोक्तमनुमानञ्च सत्प्रतिपक्षम् । ज्ञानं स्वप्रकाशं ज्ञानत्वाद्, ईश्वरज्ञानवदि' त्यनुमानान्तरस्य सत्त्वात् । किञ्चार्थापत्त्याऽनुव्यवसायेन वा ज्ञानोपलम्भस्वीकारे ज्ञानप्रकाशे कतिपयक्षणविलम्बोऽर्थापत्याद्व्युत्पत्तिरहिताना साधारणजनानां सर्वदैव ज्ञानाप्रकाशश्च स्यात् । न च तथानुभवः । सर्वेषामेवाऽविलम्बेनैवाऽर्थापत्त्याद्यननुसन्धानेनैव च ज्ञानोपलम्भात् । तस्माज्ज्ञानं स्वपरप्रकाशकमिति सिद्धम् । **तथापि**=ज्ञानस्य स्वार्थोभयप्रकाशकत्वे युक्तिसिद्धेऽपि सति, **परे**=गौतमादयः, **परेभ्यः**=वादिसकाशाद्, **भयतः**=भयं प्राप्य, **ज्ञानम्**=बोधम्, **अनात्मनिष्ठम्**=आत्मनि स्वस्वरूपे निष्ठा प्रकाशकत्वेन स्थिति र्यस्य तत्तादृशम्, न आत्मनिष्ठम् अनात्मनिष्ठम्, स्वस्वरूपाऽनवभासकम्, ज्ञानस्याऽर्थप्रकाशकत्वस्य सर्वसम्मतत्वात्स्वस्वरूपाऽप्रकाशकत्वम्, **प्रपेदिरे**=स्वीकृतवन्तः । अत्र भयत इत्युक्त्या पामरत्वं सूचितम् । पामरा हि भयादसदपि स्वीकुर्वन्ति, न तु विवेकिनः, प्राणान्तेऽपि तेषा न्यायाऽत्यागात् । किञ्च ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वे युक्तिसिद्धेऽपि यत्तदस्वीकारः, तत्र भयं विना नाऽन्यो हेतुर्भवितुमर्हतीति परेषां परिहासोऽपि ध्वन्यते ॥१२॥

अथ ब्रह्मैकं मत "ब्रह्म एवेदं सर्वमिति" निश्चतेः ।

अतएव जगदसत् । ननु तर्हि कथं तत्प्रतिभासः, न ह्यसत्त्वा काशकुसुमादि प्रतिभासत इति चेन्न । मायया तस्य प्रति भासादितिवेदान्तिमतं दूषयति—

माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धि-
रथाऽसती, हन्त ! कुतः प्रपञ्चः ? ।
मायैव चेदर्थसहा च तत्किं
माता च वन्ध्या च भवेत्परेषाम् ? ॥१३॥

अन्वय —माया सती चेद् ?, द्वयतत्त्वसिद्धिः, अथ असती, हन्त ! प्रपञ्चः कुतः ?, माया एव अर्थसहा चेत्, तत् किं परेषां माता च वन्ध्या च भवेत् ? ॥१३॥

व्याख्या—**माया**=अविद्या, **सती**=सत्तत्त्वम्, **चेद्**=यदि, अस्ति, ततः इति शेषः । **द्वयतत्त्वसिद्धिः**=द्वयस्य द्व्यवयवस्य तत्त्वस्य पदार्थस्य ब्रह्ममायोभयरूपपरमार्थस्य सिद्धिः, आपततीतिशेषः । ततश्च त्वद्वैतं सदिति सिद्धान्तो भज्येत । मायाया द्वितीयस्य तत्त्वस्यापि सत्त्वादिति भावः । **अथेति**=पक्षान्तरे । **असती**= अपारमार्थिका, मायेति सम्बध्यते । **हन्तेति** चेदर्थे, तथा च मायाऽपारमार्थिका चेदित्यर्थः । ननु तत्र किमित्याह—**प्रपञ्चः**= मायया प्रतिभासमानत्वेन स्वीकृतं जगत्, **कुतः**=कस्माद्धेतोः सम्भवेत् ?, न कुतोऽपीत्यर्थः । जगतः प्रतिभासे मायैव हेतुत्वे

नाऽभ्युपगम्यते, सा च स्वयमसती कथं परं प्रतिभासयितुं समर्था स्यात् ?, असतोऽर्थक्रियाकारित्वविरोधादिति भावः । नन्वपारमार्थिकेष्वपि मृगतृष्णेन्द्रजालादिषु जलादिप्रतिभासदर्शनादसत्यामपि मायायामर्थक्रिया स्यादिति चेत्तत्राऽऽह—**माया**=अविद्या, एवकरोऽवधारणाऽर्थः, न त्वन्येत्यर्थः । **अर्थसहा**=अर्थस्य सहा, अर्थक्रियायोग्या, **चेद्**=यदि, **चो** हेतौ, यत इत्थम्, **तत्**=ततः, **किमिति** प्रश्ने, **परेषाम्**=ब्रह्माऽद्वैतवादिनाम्, **माता**=प्रसवित्री, च, **वन्ध्या**=प्रसवशून्या, च, **भवेत्**=स्यात् ?, चद्वयं सामानाधिकरण्यार्थम् विरोधार्थञ्च । यदि मायाऽसत्यप्यर्थसहा, तदा वन्ध्या कथं न प्रसवित्रीत्युपहासः । वन्ध्यायाः प्रसवाऽयोग्यत्वमेव वन्ध्यात्वम्, अर्थक्रियाऽयोग्यत्वमेव चासत्त्वम् । एवञ्च वन्ध्योपमाया मायाया असत्या नार्थक्रियारूपप्रसवसम्भव इति मायायाः सत्त्वस्वीकार आवश्यक इति न ब्रह्माऽद्वैतमिति भावः । श्रुतिश्चेदंपदवाच्ये जगति कथञ्चिदभेदप्रतिपादनपरत्वेनाऽपि सङ्गच्छते इति न तद्बलेन ब्रह्माऽद्वैतसाधनमुचितमनुभूयमानं जगदपह्नुत्येति हृदयम् ॥१६॥

ननु त्वदुक्तं वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वं न घटते, सामान्यस्यैकत्वाद्विशेषाणां चाऽनेकत्वादिति तर्कं विघटयन्, पूर्वोक्तयुक्त्या पदार्थानां सामन्यविशेषाद्यात्मकत्वं समर्थ्योपसंहरंश्चाह—

अनेकमेकात्मकमेव वाच्यम्
द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् ।

अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्ता-
वतावकाना प्रतिभाप्रमाद ॥१४॥

अन्वय—वाच्यम् एकम् एव अनेकात्मकम्, वाचकम् अपि अवश्य द्वयात्मकम्, अत अन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्तौ अतावकाना प्रतिभाप्रमाद ॥१४॥

व्याख्या—वाच्यम्=घटादि पदार्थ, एकम्=सामान्यरूपेणाऽभिन्नम्, एवकारेण कथञ्चिदभेदाऽवधारण क्रियते, सदितिशेष । अनेकात्मकम्=विशेषरूपेण विभिन्नम्, सङ्ग्रहनयेनैक व्यवहारनयेन च विभिन्नमिति यावत् । तथा-व्यवहारनयेनाऽनेकमेव सङ्ग्रहनये नैकमपीत्यपि । तथा-वाचकम्=शब्दोऽपि, अपिना वाच्यसमुच्चय, अवश्यम्=निश्चयेन, द्वयात्मकम्=एकाऽनेकात्मकम्, सामान्यविशेषरूपेणेति भाव । ननु विशेषाणामनेकत्वात् प्रत्येक विशेषस्य सामान्यरूपत्वात्सामान्यस्याऽप्येवमनेकत्वमापतितमिति चेत्, सत्यमेतत् । सदृशपरिणामो हि सामान्यम्, तच्च प्रतिव्यक्ति कथञ्चिद्भिन्नमपीति सामान्यमप्येवमनेकात्मकम्, तथा शब्देऽपि सामान्यविशेषरूपेणैकाऽनेकात्मकत्वमिति बोध्यम् । तथा एकोऽपि घटो घटशब्दश्च सामान्यविशेषनित्याऽनित्यत्वाद्यनेकधर्मात्मक, पूर्वोक्त युक्तेरित्युपसहारेऽप्याशय । अत=वाच्यवाचकानामेकाऽनेकात्मकत्वस्य युक्तियुक्तत्वाद्धेतो । अन्यथा=प्रकारान्तरेण, सामान्यमेव,

विशेष एवेत्याद्येकान्तरूपेणेत्यर्थः । वाचकवाच्यक्लृप्तौ=वाचकस्य वाच्यस्य च कल्पनाया विषये, अतावकानाम् = त्वदननुसर्तॄणां तीर्थान्तरीयाणाम्, प्रतिभाप्रमादः=नवनवोन्मेषबुद्धिवैगुण्यम्, असत्कल्पनादिति भावः ॥१४॥

अथ यत्कापिला आहुः—“सत्त्वरजस्तमसां साम्याऽवस्था प्रकृतिः, ततो महत्तत्त्वाख्या बुद्धिस्ततोऽहङ्कारः, ततश्च पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि हस्तादीनि, मनः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राण्याकाशादिपञ्चमहाभूतजनकानीति पञ्चविंशतितत्त्वानि, तत्र बुद्धिरुभयमुखदर्पणाकारेति तत्रेन्द्रियद्वारेण विषयाः प्रतिसङ्क्रामन्त्येकतः, अन्यतश्च पुरुषश्चिच्छक्तिर्विषयपरिच्छेदशून्या प्रतिबिम्बते, अत एव बुद्धिः स्वयं जडाऽपि चित्प्रतिबिम्बात्सचेतनेव भासते । ततश्च बुद्धेरेव सुखादि न ममेति विवेकाऽग्रहादहं सुख्यहं दुःखीति पुरुषो मन्यते । वस्तुतस्तु पुरुषश्चेतनः पुष्करपलाशवन्निर्लेपः । अतस्तस्य न बन्धमोक्षौ, किन्तु प्रकृतेरेव तौ । सैव हि नानापुरुषाऽऽश्रया सती बध्यते मुच्यते च । पुरुषे तु विवेकाऽग्रहादेव तथोपचार–इति । तदेतद्विरुद्धमित्याह—

चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः
शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि ।
न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति
कियज्जडैर्न ग्रथितं विरोधि ॥१५॥

अन्वय —चिद् अर्थशून्या, बुद्धिश्च जडा, अम्बरादि च शब्दादितन्मात्रजम्, पुरुषस्य च न बन्धमोक्षौ, इति जडे विरोधि कियद् न ग्रथितम्? ॥१५॥

व्याख्या—चिद्=चैतन्यम्, अर्थशून्या=विषयसम्बन्धरहिता, बुद्धि = प्रकृतिपरिणामो महत्तत्त्वम्, चो विशेषे, तदाह—जडा=प्रतिनियतनाद्विषयसम्बन्धवत्यपि तत्परिच्छेदरहिता, अम्बरादि=आकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि, च समुच्चये, शब्दादितन्मात्रजम्=शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राख्येभ्य सूक्ष्मेभ्यो जातम् । पुरुषस्य=चेतनस्य, च पूर्वोक्तसमुच्चायक । बन्धमोक्षौ=संसारापवर्गौ, न=नैव, इति=एव प्रकारम्, जडे =तत्त्वज्ञानदरिद्रे, यतो जडा अत, विरोधि=असङ्गतम्, कियत्=किंपरिमाणम्, किम्वा, न ग्रथितम्=न निरूढम्?, अपि तु सर्वमेतद्विरोधेव ग्रथितमित्यर्थ । तथाहि चेतनम्=चित्यतेऽनयेति चित्, चेतना च स्वविषयपरिच्छेद एव, तथा च कथ विषयसम्बन्धराहित्य चेतन्यस्य स्यात्?, तथासति हि सा चिदेव न स्यात्, अतश्चिदाऽर्थशून्य चेति निरुद्धम् । बोधन बुध्यते वाऽनयेति बुद्धि, विषयपरिच्छेदिका, सा कथ जडा विषयाऽपरिच्छेदिका स्यात्? यदि हि तथा स्यान्नबुद्धिरेव न स्यादिति बुद्धिर्जडेति निरुद्धम् । अम्बरादेश्च सर्वैरेव नित्यत्वस्वीकारेण तदुत्पत्तिकथा निरुद्धा । शब्दादिकानामाकाशादिपरिणामित्वे तेषामाकाशादिगुणत्वमेव न स्यात् । न हि कारण कार्य-

गुणो भवतीत्यतः शब्दादितन्मात्रजमम्बरादीति विरुद्धम् । बन्धश्च पुरुषस्य प्रकृते र्भेदाऽग्रह एव, स चेत्पुरुषस्य न स्यात्तर्हि को नामाऽन्यो बन्धो यः प्रकृतेरेव केवलं स्यात् ? तस्माद्विवेकाऽग्रहरूपो बन्धः पुरुषस्यैव, बन्धमोक्षयोः सामानाधिकरण्यादिति न बन्धमोक्षौ पुरुषस्येति विरुद्धमिति बोध्यम् ॥१५॥

ननु सामान्यविशेषाद्यात्मकत्वं पदार्थस्य न घटते, वस्तुतः पदार्थस्यैवाऽभावात् । सर्वमेवेदं जगन्नीलाद्याकारेण प्रतिभासमानं ज्ञानमेव, बाह्यार्थस्वीकारे तस्य जडत्वेन प्रतिभास एव न स्यादितिचेत्तत्राऽऽह—

न तुल्यकालः फलहेतुभावो
हेतौ विलीने न फलस्य भावः ।
न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवि-
द्विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ॥१६॥

अन्वयः—सविदद्वैतपथे फलहेतुभावः तुल्यकालः न, हेतौ विलीने फलस्यभावः न, अर्थसविद् न, सुगतेन्द्रजालं विलूनशीर्णम् ॥१६॥

व्याख्या—संविदद्वैतपथे=सविद् ज्ञानम्, तस्या अद्वैतमेकत्वम्, ज्ञानभिन्नस्य द्वितीयस्याऽभाव इतियावत् । तदेव पन्था मार्गः, पक्ष इत्यर्थः । तस्मिन्, ज्ञानमेवैकं न बाह्योऽर्थ इतिपक्षे इत्यर्थः । फलहेतुभावः=फलं

च हेतुश्च तयोर्भावं, कार्यकारणभाव इत्यर्थः । तुल्यकालः= समकालः, न=नैव सम्भवेत् । अयमाशयः—यदि ज्ञानमेवेदं सर्वं तर्हि जायमानं ज्ञानं ज्ञानादेव जायते इत्यायातम् । तच्च जायमानं क्षणिकं चेत्, तत् समकालेन ज्ञानान्तरोत्पादकं स्यात्क्रमेण वा ?, नाऽऽद्यः पक्षः, समकाले उत्पद्यमानयोः गोविषाणयोरिव तयोः कार्यकारणभावाऽसम्भवात् । द्वयोरेव स्वोत्पत्तिव्यग्रतया कथमेकमपरस्य कारणं स्यात् ? । अतः कार्यकारणयोः पौर्वापर्यमेव, अतः सुष्ठूक्तम्—"न तुल्यकालः फलहेतुभावः" इति । तर्ह्यस्तु क्रमेणैवेति चेत्तत्राऽऽह—हेतौ=कारणे, विलीने=क्षणिकत्वान्निरन्वयनष्टे, सतीति शेषः, फलस्य=कार्यस्य, भावः=उत्पादः, न=नैव सम्भवतीत्यर्थः । कारणस्य पूर्वमेव नाशात्कार्यं न पश्चाद्भवितुमर्हति, नहि घटोत्पादात्पूर्वमेव कपालनाशे घटोत्पादः सम्भवति, उपादानस्यैवाऽभावात् । अन्यथा कपालस्य घटकारणतैव न स्यात् । कपालं विनैव घटोत्पादात् । तस्मात्कारणे सत्येव कार्यमिति स्वीकर्तव्यम् । तच्च क्षणिकज्ञानाऽद्वैतपक्षे न सम्भवतीति भावः । नन्वस्तु कार्यकारणभावो यथा भवते रोचते, क्षणिके नाऽक्षणिके नोभयथा वा, न तत्र ममाऽऽग्रहः, किन्तु ज्ञानाऽद्वैतमस्त्विति चेत्तत्राह—अर्थसंविद्=अर्थज्ञानम्, न=न सम्भवति, ज्ञानाऽद्वैते घटादि पदार्थानभिव्येयमात्रसमर्थज्ञानम्, अथ घटद्वयेन बहिर्भूतार्थज्ञानं च न सम्भवति, तत्कारणस्य बाह्यार्थस्यैवाऽभावादिति भावः । तदापन्नितमाह—गगनेन्द्रजालम्=

सुगतस्य मायापुत्रस्य, उपलक्षणत्वाचदनुसारिणश्च, इन्द्रजालम् तत्तुल्यक्षणिकज्ञानाऽद्वैतपथम्, यथेन्द्रजालं निःसारं दृष्टिव्यामोहकरं च, तथैव युक्तिरहितत्वादयथार्थत्वान्मतिव्यामोहमात्रकरं क्षणिकज्ञानाऽद्वैतपथमिति भावः । विलूनशीर्णम्=विलूनं युक्त्या निराकृतमत एव शीर्णं विनष्टवस्तुवदनुपादेयमित्यर्थः ॥१६॥

केचिद्बौद्धाः सर्वमेव शून्यं मन्यन्ते, तथाचोक्तं तैः "सर्व एवाऽयमनुमानाऽनुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन, न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते" इति, तन्निराकरिष्णुराह—

विना प्रमाणं परवन्न शून्यः
स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत ।
कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाण-
महो ! सुदृष्टं त्वदसूयि दृष्टम् ॥१७॥

अन्वयः—शून्यः प्रमाणं विना स्वपक्षसिद्धेः परवत् पदं न अश्नुवीत, प्रमाणं स्पृशते कृतान्तः कुप्येत्, अहो ? त्वदसूयि दृष्टं सुदृष्टम् ॥१७॥

व्याख्या—शून्यः=शून्यं प्रतिपाद्यत्वेनाऽस्त्यस्येति सः, शून्यवादी, प्रमाणं विना=प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमनाश्रित्य, स्वपक्षसिद्धेः=स्वस्य पक्षः स्वस्वीकृतवादः, शून्यवाद इत्यर्थः । तस्य सिद्धेः निष्पत्तेर्ज्ञप्तेश्च,

पदम्=स्थानं प्रतिष्ठा वा, परवत्=इतरवादिवत्, यथेतरे वादिनः प्रमाणेनैव स्वपक्षं साधयन्ति, न तु तद्भिन्नेनेति वैधर्म्येण दृष्टान्तः। न=नैव, अश्नुवीत=प्राप्नुयात्। अप्रमाणस्य वादस्योन्मत्तप्रलपितकल्पत्वेन लोकाऽनुपादेयत्वादिति भावः। ननु प्रमाणेनैव शून्यवादः स्थाप्यते इति चेत्, तत्त्वयोपादीयमानं प्रमाणं शून्यं वा स्यादशून्यं वा ?, नाद्यः पक्षः, स्वयमसतः परसत्त्वकथाऽनधिकारात्। नहि स्वयमसिद्धः परान् साधयितुं समर्थो भवति ?। द्वितीयपक्षश्चेत्तत्राह—प्रमाणम्=प्रत्यक्षादिकम्, स्पृशते=सत्त्वेन स्वीकुर्वते तुभ्यं शून्यवादिने, कृतान्तः=सिद्धान्तः, यमराजश्च, कुप्येत्=क्रुध्येत्। क्रुद्धे हि यमराजे मरणमवश्यंभावि, तथा प्रमाणसत्त्वस्वीकारे सर्वशून्यवादसिद्धान्तो विहन्यते। प्रमाणस्यैवाऽशून्यस्य सत्त्वात्। प्रमाणाशून्यत्वे च प्रमेयस्याऽप्यशून्यत्वम्। अन्यथा प्रमाणमप्यशून्यं न स्यात्। प्रमाणस्य प्रमेयाश्रयेणैव प्रवृत्तेरिति सर्वशून्यवादउन्मत्तप्रलपितकल्प एवेति तदलंतुपहसन्नाह—अहो != उपहासे, त्वदसूयिदृष्टम्=असूयन्ति गुणेषु दोषानाविष्कुर्वन्तीत्यसूयिनस्तुभ्यमसूयिनस्त्वदसूयिन, तैः दृष्टम् अवधारितम्, तेषां वा दृष्टं दर्शनं शून्यवादाख्यम्, सुदृष्टम्=शोभनं दर्शनम्, प्रमाणपरिहीणत्वात्तु दर्शनमेवेत्यर्थः। तत्र चाऽसूयाशीलत्वमेव हेतुः, न हि कोऽपि गुणं विहाय शुभमनिर्गुणमाश्रयतीति भावः ॥१७॥

ये तु पूर्वोक्तदोषाननुसन्धाय क्षणिकानार्द्वैतसर्वशून्यत्व

पक्षमपहाय क्षणिकत्वपक्षमेवाऽङ्गीकुर्वन्ति बौद्धाः, तथाहि—सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्, यत्सत्तत्क्षणिकम्, यथा घटादयः । न चाऽत्र पक्षे कार्यकारणभावविरहोऽर्थाज्ञानं वाऽऽपत्तिः सम्भवति, पूर्वपूर्वक्षणानामुत्तरोत्तरक्षणकारणत्वात्, ततश्च कपालादिक्षणो घटादिक्षणहेतुरिति न कार्यकारणभावाऽनुपपत्तिः । बाह्यार्थक्षणस्याऽपि स्वीकाराच्च घटादिक्षणस्य तज्ज्ञानक्षणेन विषयीकरणादर्थज्ञानस्य सूपपादत्वात् । न च ज्ञानक्षणाऽऽश्रय आत्मा न क्षणिकः, अन्यथा कपालक्षणस्य घटान्तराऽहेतुत्ववत्सोऽपि ज्ञानक्षणान्तरहेतु र्न स्यादिति वाच्यम् । क्षणिकज्ञानमेवाऽऽत्मा नाऽन्य इति प्रस्तुतदोषोद्भावनस्याऽनवसरग्रस्तत्वात् । एवञ्च पराभिमतः कर्मफलभोगभवमोक्षस्मृत्यादिरात्मधर्मो ज्ञानस्यैवे” ति । तान् प्रत्याह—

कृतप्रणाशाऽकृतकर्मभोग-
भवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभङ्गमिच्छ-
न्नहो ! महासाहसिकः परस्ते ॥१८॥

अन्वयः — ते परः साक्षात् कृतप्रणाशाऽकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् उपेक्ष्य क्षणभङ्गम् इच्छन् महासाहसिकः अहो ? ॥१८॥

व्याख्या — ते = तव, परः = त्वदाज्ञाया अननुसरणाद् दूषणाच्च

प्रतिस्पर्धी, बौद्ध इति यावत् । साक्षात्=विनाऽन्तरायमनुभूयमानान्, कृतप्रणाशाऽकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान्=कृतस्य प्रणाशश्चाऽकृतस्य कर्मणो भोगश्च भवस्य प्रमोक्षस्य स्मृतेश्च भङ्गश्च, ते च ते दोषाश्च तान्, उपेक्ष्य=अनिराकृत्यैव, एतच्च साहसिकत्वे बीजम् । क्षणभङ्गम्=पदार्थानामुत्पत्त्यनन्तरं निरन्वयं ध्वंसम्, इच्छन्=अभिलष्यन्, उपलक्षणत्वात्प्रतिपादयन्नित्यर्थः । अत्रेच्छन्निति पदेन 'स इच्छत्येव, न तु लोकस्तथा मन्यते' इति तस्य हताशत्वं ध्वन्यते । महासाहसिकः=सहसाऽपायाऽविमर्शेन प्रवर्तते इति स साहसिकः, स चाऽसौ महांश्च, अनुभूयमानानामप्यपायानामुपेक्षणादिति भावः । अहो !=विस्मयकरमेतत् । कृतप्रणाशादयो दोषाश्चेत्थम्—सर्वं क्षणिकमिति कर्मापि क्षणिकम्, एवञ्च कृतस्य कर्मणोऽप्राप्यैव फलभोगं तत्काले नाश इति कृतप्रणाशो दोषः क्षणिकत्वपक्षे । भोगश्च भवेदकृतकर्मण एव स्यात्, भोजकेन क्षणेन कर्माऽकरणात्, कर्तुश्च क्षणस्य पूर्वमेव नाशेन भोगक्षणेऽसत्त्वात् । यत्रैव कर्म तत्रैव भोगश्च न सम्भवति, द्वयोः कार्यकारणभावात्, तस्य च पौर्वापर्यनियतत्वात् । एवञ्चाऽकृतकर्मभोगरूपो दोषः क्षणिकत्वपक्षे । ततश्च क्षणिकत्वपक्षे कृतकर्मनाश, अतो भवभङ्गोऽप्यापद्यते, कृतकर्मफलभोगो हि भव, येन कृतं तेन कृतम्, इदमपि क्षणिकत्वाद्विनष्टमेवेति कस्य कुतो भव इति भवभङ्गः प्रमोक्षाभावस्तद्रूपो दोषः । यथाऽनुभूतस्मरणं दृश्येत, तत्र प्रमोषभङ्गो नोपपत्तिरूपो दोषः, कृतस्य कर्मण

आत्यन्तिकनाशात्तत्फलभोगाभावो हि मोक्षः, अकृतस्य कर्मणः फलभोगश्च भवन् निर्हेतुकत्वात्प्रयत्याऽप्यनिवारणीय एव । किञ्चाऽऽत्मनोऽस्वीकाराज्ज्ञानस्य च क्षणिकत्वात्को बद्धोऽवतिष्ठते ?, यो मुच्येत ? । तस्मात्क्षणिकत्वपक्षे मोक्षाभावप्रसङ्गरूपो दोषः । क्षणिकज्ञानस्यैवाऽऽत्मत्वपक्षे च स्मृत्यभावापत्तिरूपः स्मृतिभङ्गो दोषः, यस्यैव ह्यनुभवस्तस्यैव स्मरणं भवति, नहि चैत्रेणाऽनुभूतं मैत्रः कदापि स्मरति । अनुभविता च ज्ञानक्षणो विनष्ट एव, क्षणान्तरस्य चाऽनुभव एव नास्ति, कुतस्तस्य स्मरणं स्यात् ?, ततो भवति क्षणिकज्ञानाऽऽत्मवादिनः स्मृतिभङ्गरूपो दोष इति सङ्क्षेपः ॥१८॥

ननु कृतप्रणाशादिदोषाः क्षणानां परस्परं भेद एव सङ्गच्छन्ते । न च क्षणा भिन्नाः, वासनया क्षणानां सन्ताने ऐक्याऽध्यवसायात् । एवञ्च येनैव कृतं तेनैव भुज्यते, येनाऽनुभूतं तेनैव च स्मर्यते, यो हि बद्धः स एव मुच्यते चेति कृतप्रणाशादिदोषा अनवसरग्रस्ता एवेति चेत्तत्राह—

सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च
नाऽभेदभेदाऽनुभयैर्घटेते ।
ततस्तटाऽदर्शिशकुन्तपोत-
न्यायात्त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ॥१९॥

अन्वयः — सा वासना सा च क्षणसन्ततिः अभेदभेदाऽनुभयैः

न घटेते, तत परे तटाऽदर्शिशकुन्तपोतन्यायात् त्वदुक्तानि श्र-यन्तु ॥१९॥

व्याख्या—सा=सुगताभिमता, एषा प्रस्तुता, वासना=क्षणसन्ताने क्षणेषु प्रत्येकमभेदप्रत्ययजनक पूर्वपूर्वक्षणजन्य उत्तरोत्तरक्षणनिष्ठ शक्तिविशेष, सा=इयमन्या, चः=समुच्चये, क्षणसन्ततिः=अभेदाऽध्यवसिता क्षणपरम्परा, एतद्‌द्वयमपि, अभेदभेदाऽनुभयैः=अभेदश्च भेदश्चाऽनुभयश्च तै कृत्वा, एतेषा कस्याप्येकस्याऽऽश्रयेणेत्यर्थ । न=नैव, घटेते=सङ्गच्छेते । तथाहि—न तावद् द्वयोरभेद, तथा सति वासना वा स्यात्क्षणसन्तानो वा, न तूभयम् । द्वित्वस्य व्यक्तिभेदनियतत्वात् । नाऽपि तयोर्भेद, यदि हि वासना भिन्ना स्यात्क्षणिकैव स्यात् । ततश्च वासनाक्षणसन्तानेऽपि क्षणेष्वभेद प्रत्ययार्थं वासनान्तरमपेक्षणीयमित्यनवस्था । सा वासनाऽक्षणिका चेद्, विनष्ट सर्वक्षणक्षयवादेन । शब्दान्तरेण नित्यत्वस्वीकारा पत्तिश्च । नाऽप्यनुभयपक्ष, भेदाऽभेदाभ्या विलक्षणस्य प्रकारस्य बौद्धमतेऽस्वीकारात्, उभयप्रतिषेधेऽन्यतुल्यप्रसङ्गात् । एवञ्च कथञ्चि द्भेदाभेदपक्ष एव स्वीकरणीय इति स्याद्वादो विजयते । तदाह—ततः=उक्तपक्षत्रये वासनाक्षणभङ्गयोरघटनाद्धेतो, परे=बौद्धा, तटादर्शिशकुन्तपोतन्यायात्=तट न पश्यतीत्येवशील, स चाऽसौ शकुन्तस्य पक्षिण काकादे पोत शावश्च, तस्य न्याय पद्धतिं नीतिं वाऽऽश्रित्य, यब्लोपे पञ्चमी । यथा तटस्थितप्रवहणकूप

त्रमेव हेतुः, किन्तु प्रत्यक्षसिद्धं वस्तुनस्तत्त्वम्, ततश्च प्रत्यक्षसिद्ध-मपलपन्न स्वस्थ इत्याह—

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि-
स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः
स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ॥२१॥

अन्वयः—जिन ! नाथ ! यः प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगिस्थिरैकम् अध्यक्षम् ईक्षमाणोऽपि त्वदाज्ञामवमन्यते, स वातकी पिशाचकी वा ॥२१॥

व्याख्या—जिन ! = रागादिजेतः, अत एव, नाथ !=स्वामिन् !, हेयोपादेयोपदेशादिना पालनाज्जगत इति भावः, एतेनाऽऽज्ञापालन-स्वरूपयोग्यतोक्ता, ईदृशस्यैवाऽन्यैराज्ञापालनादिति ध्येयम् । यः =यः कश्चित्पुरुषः, प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगिस्थिरैकम् = प्रतिक्षणं क्षणे क्षणे, नतु कदाचिदेव, उत्पादविनाशयोगि उत्पाद उत्तराकार-प्रतिपत्तिः, विनाशः पूर्वाकारपरित्यागः, ताभ्यां युज्यते सम्बध्यते इति तथाहृशं स्थिरमन्वयिनमेकम् वस्तुमात्रम्, अध्यक्षम्=साक्षात्, ईक्षमाणः=अनुभवन्, एवञ्चोत्पादव्ययध्रौव्येषु सामानाधिकरण्यात्पृ-थगनुपलम्भाच्चाऽभेदः, स्वलक्षणभेदाच्च भेदः प्रत्यक्षसिद्ध इति भावः । अपिना तथाऽननुभवे त्वदाज्ञाऽवमाननं युज्यते, न त्वनुभवे,

अनुभूयमानस्याऽपलापाऽयोगादिति सूच्यते । तदाह—त्वदाज्ञाम्= कार्यकारणयोर्भेदाभेदादिरूपत्वदादेशम्, अवमन्यते=उपेक्षते, एकान्तवादाश्रयणेन कृत्वेति भाव, सः=तादृश पुरुष, वातकी= वातरोगी, उन्मत्त इत्यथ, । पिशाचकी वा=अथवा पिशाचाऽऽविष्ट । वातरोगाक्रान्तेन पिशाचाविष्टेनैव वा प्रत्यक्षापलाप क्रियते, न त्वन्येनेति स वातकी पिशाचकी वा भवितुमर्हति, कार्येण कारणाऽनुमानादिति भाव । उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्व च वस्तुनो यथा—मृदाच्घिटाद्याकार परित्यज्य कपालाद्याकार प्रतिपद्यते, उभ यदशाया च मृन्मृदित्यन्वयित्वेन मृद्धातीयते च । तदेव मृदु त्पादव्ययध्रौव्ययोगिनी । एवमन्यत्राऽपि बोध्यम् । तत्र ध्रौव्यात्मकरूपस्य कारणस्योत्पादव्ययाशरूपस्य कार्यस्य च न परस्परमत्यन्तभेद, भिन्नयोर्घटपटयो सामानाधिकरण्याभावात्पृथगुपलम्भाच्च । अभिन्नयोश्च सामानाधिकरण्य पृथगनुपलम्भश्च । तत कार्यकारणयो कथञ्चिदभेद, नाऽप्यत्यन्तमभेद, अन्यथा स्वलक्षणभेदाऽनापत्ते, स्वरूपवच्चेति तयो कथञ्चिद्भेदाभेद प्रत्यक्षसिद्ध इति ॥२१॥

ननु कार्यकारणयो कथञ्चिद्भेदाभेदस्वीकारे पुनस्यैकस्यैव मृदादिद्रव्यस्याऽनन्तेऽनादौ संसारेऽनन्ता उत्पादा विनाशाश्च, किञ्च वस्तुनि सदसन्नित्यानित्यसामान्यविशेषाद्यात्मकत्वमपि त्वया प्रतिपाद्यते, ततश्च प्रत्येक द्रव्यस्याऽनन्तधर्मात्मकत्व स्यादिति चेत्, इष्टमेवैतत्, प्रमाणाऽनुरोधादित्याह—

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्व-
मतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।
इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि-
कुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः ॥२२॥

अन्वयः—तत्त्वम् अनन्तधर्मात्मकमेव, अतोऽन्यथा सत्त्वम् असूपादम्, इति ते प्रमाणान्यपि कुवादिकुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः ॥२२॥

व्याख्या—तत्त्वम्=वस्तु, अनन्तधर्मात्मकम्=अनन्तधर्मलक्षणम् । एवकारेणैकान्तवादिप्रतिपादिताऽविरुद्धकतिपयधर्मलक्षणवस्तुनिषेधः सूच्यते । एकान्तवादिनां ह्युत्पन्ने विनष्टे च न ध्रौव्यम्, ध्रुवे च नोत्पादव्ययौ । किञ्च तेषां सति घटादौ सत्त्वमात्रम् । इह तु वादे पटाद्याकारेणाऽसत्त्वमपि तत्र । तथा घटोऽघटोऽपि पटरूपेण । यथा हि घटादौ विरुद्धा असत्त्वादयोऽनन्ता धर्माः, तथा सत्त्वादयोऽविरुद्धा अपीति न कतिपयधर्मलक्षणं वस्त्विति भावः । विपक्षे बाधकं हेतुमाह—अतः=प्रतिपादितात्प्रकारात्, अन्यथा=प्रकारान्तराश्रयेण, एकान्तवादिमताश्रयेणेति यावत् । सत्त्वम्=वस्तुनः सत्ता, असूपपादम्=दुरुपपादम्, नहि केवलस्योत्पादादेः क्वाऽप्युपलम्भः, किन्तु परस्परसापेक्षतयैवेति सत्त्वस्याऽनन्तधर्मत्वव्याप्यत्वाद्व्यापकाऽभावे व्याप्याभावप्रसङ्गादिति भावः । तथा चात्र प्रयोगः=वस्त्वनन्तधर्मात्मकं सत्त्वाऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति ।

इति=प्रतिपादितप्रकाराणि प्रत्यक्षानुमानादिरूपाणि, ते=तव केवलिनो जिनेन्द्रस्य, प्रमाणानि=प्रमाणवचासि, अपिना नयादिपरिग्रह, कुवादिकुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादा'=कुवादिन एकान्तवादिन कुरङ्गा एकनयाऽनुसारितया मृगसन्निभा, अतस्तेषा सन्त्रासने त्रासदान कर्मणि सिंहनादास्तत्तुल्यानि । कुरङ्गा सिंहनादमिव तव वस्तु तत्त्वप्रतिपादकप्रमाणानि श्रुत्वा प्रतीकाराऽसमर्थतया जीवनात्मक स्वपक्षाऽपहारभिया पलायन्ते कुवादिन इत्यर्थ । अत्र प्रमाणानीति बहुवचन द्वयोरेव प्रमाणयोस्तत्त्वेऽपि " एतावन्मात्रमेव स्वपक्ष समर्थने प्रमाणमि " तिव्यामोहनिरासाय । एवञ्च प्रमाणबाहुल्यादेप एव पक्ष उपादेय इति जिन एवाऽऽप्त इति सूचितम् ॥२२॥

ननु यत्र यो धर्मो भवति, तदुल्लेखेन तदभिधान भवति, अभिधान च पदार्थाना " सन्द्रव्य घट, उत्पन्नो घट, विनष्टो घट " इत्येव सत्त्वाद्युल्लेखेनैव, ततश्चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमेव वस्तु, नाऽनन्तधर्मात्मकम्, अन्यथाऽन्याऽभिधानप्रत्ययाना विसद शत्वापत्तेरिति चेन्न । वस्तुधर्माणा प्रयोजनवशादेव विवक्षा भवति । एवञ्च हि देवदत्ते पितापुत्रत्वादिधर्मे सत्यपि येन विवक्षितधर्मविशेषेण यथाप्रयोजन सोऽभिधीयते, नैतावता तत्राऽन्यो धर्मो नास्तीति वक्तु शक्यते । तस्मात् द्रव्यास्तिकेन पर्यायास्तिकेन वा नयेनाऽभिधा वस्तुन । प्रमाणवाक्य त्वनन्तध र्मात्मकत्वप्रतिपादकमसमर्थात्मकमेवेत्याह—

अपर्ययं वस्तु समस्यमान-
मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।
आदेशभेदोदितसप्तभङ्ग-
मदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम् ॥२३॥

अन्वयः—बुधरूपवेद्यम् आदेशभेदोदितसप्तभङ्गम् वस्तु समस्यमान-मपर्ययं विविच्यमानमद्रव्यम्, एतच्च त्वमदीदृशः ॥२३॥

व्याख्या—**बुधरूपवेद्यम्**=बुधरूपाः प्रशस्ता बुधाः, सम्यग्ज्ञान-वन्त इत्यर्थः । तैः वेद्यम्, न तु मिथ्यामतिभिरिति भावः । **आदेशभेदोदितसप्तभङ्गम्** = आदेशो वस्तुप्रतिपादनप्रकारः, तस्य भेदो विभागः, सकलादेशरूप इति यावत् । तेनोदिताः कथिताः सप्त भङ्गाः खण्डा येषु तत्तादृशम् । सकलादेशरूपसप्तभङ्ग-प्रतिपाद्यमित्यर्थः । **वस्तु**=पदार्थः, **समस्यमानम्**=सङ्क्षेपेणोच्य-मानम्, सङ्ग्रहनयाऽर्पणेन कृत्वा द्रव्यपर्याययोरभेदाश्रयेणेत्यर्थः । **अपर्ययम्**=पर्ययरहितम्, अभ्यन्तरीकृतसकलपर्यायं सन्मात्ररूपं द्रव्या-दिसामान्यमात्ररूपं वा, **विविच्यमानम्**=विवेकेन पर्यायनयाऽर्पणेन पर्यायाणां भिन्नत्वाद्भेदेन प्रतिपाद्यमानम्, **अद्रव्यम्**=पर्यायमात्र-रूपम्, विकलादेशेन प्रयोजनवशाद्विवक्ष्यते इति शेषः । एवञ्च सकलादेशरूपसप्तभङ्ग्यात्मकवाक्येनाऽनन्तधर्मात्मकम्, नयेन च वि-कलादेशेन तत्तद्धर्मविशेषात्मकं वस्तु प्रतिपाद्यते इति भावः ।

एतद्=सकलादेशेन विकलादेशेन च वस्तुप्रतिपादनम्, त्वम्= भवान् जिनेश्वर एव, चो भिन्नक्रम एवकारार्थ । अदीदृशः= लोकेभ्यो दर्शितवान्, उपदिष्टवान् वा, न त्वन्य, । एवञ्च त्वदन्यस्य वस्तुप्रतिपादन वस्तुतत्त्वमनुष्ठैव प्रवर्त्तेत इति स नाऽऽप्त, किन्तु त्वमेवेत्याशय । अयम्भाव–घटादय पदाथा स्वक्षेत्र द्रव्यकालभावरूपेण सन्त, परक्षेत्रद्रव्यकालभावरूपेण चाऽसन्त, अन्यथा पररूपणाऽपि सत्त्वप्रसङ्गस्तेपा स्यात् । एवञ्च ते सद-सदात्मका एव । प्राधान्येन च सदसत्त्वयो र्युगपदेकत्र प्रतिपा दनाऽसम्भवादवक्तव्या अपि । कालादिभि र्भेदपक्षे तत्र क्रमेण तत्तद्धर्मप्रतिपादने विकलादेशरूपा नया आश्रीयन्ते । यौगपद्येन कालादिभिरभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्या सकलधर्मप्रतिपादने च सकला-देशरूपा सप्तभङ्ग्याश्रीयते इति सङ्क्षेप । विशेष जिज्ञासुभिस्तु सप्तभङ्गीसमुच्चयनयचक्रादयो ग्रन्था अवलोकनीया ॥२३॥

ननु यदि पदार्था, कथमसन्त ?, अथाऽसन्त, कथ-पदार्था ?, पदार्थाश्च घटादयोऽसन्तश्चेति विप्रतिपिद्धम् । किञ्च यदि सन्तो, नाऽवाच्या, अथाऽवाच्या न सन्त, सता सर्वेपा मेव वाच्यत्वादिति पदार्था सन्तश्चाऽवाच्याश्चेति विप्रतिपिद्धमिति चेन्न । उपाधिभेदेन विरुद्धानामप्येकत्र समावेशेनाऽविरोधात् । एक एव हि देवदत्तस्तत्तदुपाध्यपेक्षया पिता च पुत्रश्च, न च तयोर्विरुद्धता, तदाह—

उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं
नाऽर्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता
जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥२४॥

अन्वयः—अर्थेषु असत्वं सदवाच्यते च उपादिभेदोपहितं विरुद्धं न, इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडाः तदेकान्तहताः पतन्ति ॥२४॥

व्याख्या—अर्थेषु=जीवाजीवात्मकेषु वस्तुषु, असत्त्वम्=नास्तित्वम्, सदवाच्यते=सन्तश्चाऽवाच्याश्च, तेषां भावौ, सत्त्वाऽवाच्यत्वे-इत्यर्थः । चो नित्याऽनित्यत्वसामान्यविशेषाद्यनुक्तसमुच्चये । उपाधिभेदोपहितम्=उपाधि र्व्यावर्त्तको वस्त्वंशभूतः प्रकारविशेषः, तस्य भेदो नानात्वम्, तेन कृत्वोपहितमर्पितं सत्, विरुद्धम्=विरोधि, न=नैव, अस्तित्वनास्तित्वयो र्हि समानोपाधिकत्वे विरोधः । देवदत्तस्य पुत्ररूपैकोपाध्यपेक्षया पुत्रत्वं पितृत्वं च विरुध्यते पुत्राऽपेक्षया पितृत्वं पित्रपेक्षया च पुत्रत्वं च न विरुध्यते । तथा पदार्थानां स्वकालाद्यपेक्षे सत्त्वाऽसत्त्वे वाच्याऽवाच्यत्वे सामान्यविशेषौ नित्याऽनित्यत्वादि च विरुध्यन्ते मिथः । किन्तु स्वकालाद्यपेक्षया सत्त्वं वाच्यत्वं च, परकालाद्यपेक्षया चाऽसत्त्वमवाच्यत्वञ्च, अनुवृत्तिप्रत्ययविषयतया सामान्यरूपत्वम्, व्यावृत्तिप्रत्ययविषयतया च विशेषरूपत्वम्, द्रव्यात्मना नित्यत्वम्, पर्यायात्मना चाऽनित्य-

त्वमित्युपाधिभेदाऽपेक्षया न विरुद्धम्, समानोपाधिकत्वेन विरोधेऽपि भिन्नोपाधिकत्वेनाऽविरोध । तथैव च प्रतिपाद्यतेऽपि । न हि समानोपाधिकतयैकत्र सत्त्वाऽसत्त्वादीना प्रतिपादन स्याद्वादे, येनैकत्र तेषा मिथो विरोधादसम्भव स्यादिति भाव । इति= उक्तप्रकारमविरोधम्, अप्रबुध्यैव=अज्ञात्वैव, अविचार्यैव वा, एतेन सूक्ष्मेक्षिकाऽभाव सूच्यते एकान्तवादिनाम् । विरोधभीता:= सत्त्वासत्त्वादीना युगपदेकत्र स्वीकारे विरोध आपतेदित्येव भय विह्वला सन्त, जडा:=सूक्ष्मविचाराऽक्षमा, नहि ज्ञानिनो भय मिति भाव । तदेकान्तहता:=तेषा सत्त्वादीना य एकान्त इतरधर्मनिषेधपूर्वकतन्मात्रनिश्चय सत्त्वमेवेत्यादिरूप, तेन हता विनष्टबुद्धय सन्त, पतन्ति=अधोगच्छन्ति । हताना हि पतन प्रसिद्धमेवेति भाव । यो ह्येकान्तमाश्रयति, स तेन दण्डादिना हत इव हत, अत पतति । न मुच्यते, यथार्थज्ञानाऽभावादिति गूढाकूतम् ॥२४॥

तदेवमुक्तयुक्तिप्रयुक्तिभि सिद्ध मोल स्याद्वादस्य भेदचतुष्टय समुच्चिनोति—

स्यान्नाशि नित्य सदृश विरूप
वाच्य न वाच्य सदसत्तदेव ।
विपश्चिता नाथ ! निपीततत्त्व-
सुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥२५॥

अन्वयः—तदेव स्यात् नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सत् असत्, विपश्चितां नाथ! इयं निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परा ॥२५॥

व्याख्या—**तदेव**=जीवाजीवादिप्रत्येकमेव वस्तु, **स्यात्**=कथञ्चित्, अस्य नाश्यादिपदेषु प्रत्येकमन्वयः। **नाशि**=पर्यायात्मनाऽनित्यम्, **नित्यम्**=द्रव्यात्मनाऽविनाशि, नित्यञ्चाऽनित्यञ्चैकमेव वस्तु कथञ्चित्, न तु नित्यमन्यदनित्यञ्चाऽन्यत्, उक्तयुक्तेरिति भावः। एवमन्यत्राऽप्यूह्यम्। **सदृशम्**=सामान्यात्मकम्, **विरूपम्**=विशेषरूपम्, तदेव सामान्यविशेषात्मकमुक्तयुक्तेः। **वाच्यम्**=वक्तव्यम्, सदसत्त्वादीनां गुणप्रधानभावेनेति भावः। **नवाच्यम्**=अवक्तव्यम्, सदसत्त्वयोर्युगपत्प्राधान्येनेति भावः। वक्तव्यञ्चाऽवक्तव्यञ्च तदेकमेवेत्यर्थः। उक्तयुक्तेः। **सत्**=वस्तुरूपम्, स्वद्रव्यादिनेति भावः। **असत्**=अवस्तुरूपम्, परद्रव्यादिनेति भावः। तदेकमेव सदसच्चेत्यर्थः, उक्तयुक्तेः। तथा चैकमेव घटादिवस्तु स्यान्नित्यं स्यादनित्यं स्यात्सामान्यं स्याद्विशेषः स्याद्वक्तव्यं स्यादवक्तव्यं स्यात्सत्स्यादसच्चेति सम्बन्धः। **विपश्चिताम्**=ज्ञानिनाम्, **नाथ!**=स्वामिन्!, यथास्थितवस्तुनो जिनेनैव प्रतिपादनादिति भावः। **इयम्**=उक्तप्रकारा नयभङ्गाभ्या तव प्रतिपादनरीतिः, **निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परा**=निपीता निःशेषतयाऽनुभूता या तत्त्वमेव निरतिशयाऽऽनन्दजनकत्वात्सुधा पीयूषम्, तयोद्गता निः-

सुतोद्गारपरम्परा तृप्तिसूचकोद्गारसन्ततिः, अन्योऽपि हि स्वादु पानीयादि यथेष्टं पीत्वोद्गारं करोति, तथा निपीततत्त्वस्येयमुद्गार-परम्परा । परे तु न निपीततत्त्वाः, अतस्तेषां न तथोद्गार इति तत्त्वपचिता एव इति त्वमेवाऽऽस इति हृदयम् ॥२५॥

नित्यैकान्तवादिनोऽनित्यैकान्तवादिनश्च परस्परविरोधेनैव हता इति स्याद्वादो निर्विरोध एवेत्याह—

> य एव दोषाः किल नित्यवादे
> विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
> परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु
> जयत्यधृष्यं जिन ! शासनं ते ॥२६॥

अन्वय—नित्यवादे ये एव दोषाः, विनाशवादेऽपि ते समा एव किल, जिन ! परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु ते शासनम् अधृष्यं जयति ॥२६॥

व्याख्या—नित्यवादे = नित्यैकान्तवादे, नित्यवादिनां हि—सर्वं नित्यं सत्त्वात्, अन्यथाऽर्थक्रियैव न स्यात्, अनित्यत्वे हि क्षणानन्तरमेव ध्वंसात्मकत्वात्, तथापि नित्यत्वे कार्यकारणभावोऽनुपपत्त्या नित्य एव पदार्थ इति मतम् । ये = वक्ष्यमाणप्रकारा, एकत्रापि भोगाभावाद्यनेकप्रतिवादगर्भ । दोषाः = दूषणानि, विनाशवादे = अनित्यैकान्तवादे, अनित्यैकान्ता

दिनां हि–सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्, अन्यथाऽर्थक्रिया न स्यात्, नित्यस्याऽप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वात् । नानाऽर्थक्रियाकरणे च स्वभावभेदस्याऽवश्यंभावात्स्थिरैकरूपत्वाऽसम्भवादनित्यत्व एव पर्यवसानादिति मतम् । **अपिः** समुच्चये । **ते**=नित्यवादोक्ताः, **समाः**= सर्वे, एवकारोऽवधारणार्थः, न तु कतिपये इत्यर्थः । अत एव, **जिन !**=वीतराग !, **कण्टकेषु**=स्याद्वाददूषणरूपपीडाजनकतया कण्टकतुल्येषु क्षुद्रशत्रुष्वेकान्तवादिषु, **परस्परध्वंसिषु**=सुन्दोपसुन्द-न्यायेनाऽन्योन्यं दूषणव्यग्रेषु सत्सु । अनित्यवादिनो नित्यवादिनस्ते च तान् दूषयन्तीति तेऽन्योन्यदूषणादेव हता इति भावः । **ते**=तव, **शासनम्**=नित्यानित्यत्वादिरूपवस्तुतत्त्वप्रतिपादकः स्याद्वादाख्यः सिद्धान्तः, **अधृष्यम्**=अदूषणीयम्, नित्यवादिनाऽनित्यवादिनो निराकरणात्तेन च तस्य निराकरणादुभयाऽभावान्नित्यानित्यादिपक्षो निरन्तरायः । न नित्यैकान्तः, अनित्यवादिदत्तदोषाणां जागरूकत्वात्, नाप्यनित्यैकान्तः, नित्यवादिदत्तदोषाणां जागरूकत्वात् । तस्मात्परिशेषान्नित्यानित्यवाद एव शरणमदुष्टं चेति भावः । उपलक्षणत्वात्सामान्यविशेषाद्यात्मकमपि बोध्यम् । यतश्चाऽधृष्यम् अत एव, **जयति**=सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । दूषकस्य दोषलेशस्य चाऽभावादिति भावः ॥२६॥

के ते दोषा इत्याकाङ्क्षायामाह—

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ
न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैव
परै विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥२७॥

अन्वय—एकान्तवादे सुखदुःखभोगौ न, पुण्यपापे न, बन्धमोक्षौ च न, परै एव दुर्नीतिवादव्यसनाऽसिना अशेषम् अपि जगद् विलुप्तम् ॥२७॥

व्याख्या—एकान्तवादे=वस्तु नित्यमेवाऽनित्यमेव वेत्येवमितरधर्मनिषेधपूर्वकैकधर्मस्वीकारनये, सुखदुःखभोगौ = सुखदुःखयो भोगौ साक्षात्कारौ, सुखानुभवो दुःखानुभवश्चेत्यर्थ । द्विवचनमिष्टाऽनिष्टयोर्वैलक्षण्यसूचनाय । न=नैव, सङ्गच्छेते इति शेष । ननु स्वहेतुभ्यां पुण्यपापाभ्यामेव तयो सम्भव इति चेत्, तदाह—पुण्यपापे=धर्माऽधर्मौ, अदृष्टे इत्यर्थ । न=नैव, सङ्गच्छेते । ननु मा भूतां पुण्यपापे, एवञ्च वैधर्म्यहेतोरभावात्तर्हि जगत्सुख्येव स्यादिति चेत्तत्राऽऽह—बन्धमोक्षौ=बन्ध आत्मप्रदेशै सह कर्मपुद्गलानां सम्बन्ध, स, तदभावाच्च मोक्ष कार्त्स्न्येन कर्मक्षय आत्मप्रदेशेभ्य कर्मपुद्गलानां पार्थक्य इत्यर्थ, स च । न च=नैव, सङ्गच्छेते । अयमाशय=एकान्ते जीवोऽनुत्पन्नाविनष्टस्थिरैकरूपो नित्य, सुखदुःखानुभवोऽपि विपरीतत्वात् तदुभयोर्भिन्नत्वान्नैकत्वे स्वरूपेण दुर्घटतया निर्विकारस्य मा-

विघटिष्येति सोऽनुभवोऽवश्यापलाप्य आपतति, फलसम्भवे च कारणमकिञ्चित्करमिति पुण्यपापे अपि व्यर्थे, किञ्च ते विहिताऽविहितकर्मजन्ये, क्रिया चाऽपि स्थिरैकरूपेण न सम्भवति, क्रियाभेदस्य कर्तृरूपभेदाऽविनाभावित्वात् । अन्यथा क्रियाभेद एव दुरुपपादः स्यात् । पुण्यपापयोरभावे चाऽऽत्मनस्तद्रूपकर्मसम्बन्धरूपो बन्धोऽसम्भव एवेति मोक्षोऽपि न स्यात्, तस्य बन्धपूर्वकत्वात् । किञ्च बन्ध एव संसार इति तदभावे जगतोऽप्यपलापापत्तिः । अनित्यैकान्तेऽप्येषाऽऽपत्तिः, कार्यकारणयो र्हि सामानाधिकारण्यनियमः, पुण्यपापयोः कर्त्ता च क्रियाकाल एव नष्टः इति कस्य सुखदुःखभोगौ तन्निमित्तौ ?, तयोश्चाऽप्यसम्भव एव पुण्यपापयोः, क्षणिकेन स्वोत्पत्तिक्रियाव्यापृतेन क्रियान्तराऽसम्भवात् । एवञ्च पुण्यपापाऽभावात्क्षणिकतया च बद्धस्याऽभावाच्च मोक्षोऽप्यसिद्धो जगदपलापश्चाऽपद्यते नित्यैकान्तवादवदित्याह—**एवम्**=बन्धाद्यपलापप्रकारेण, **परैः**=एकान्तवादिभिः, अनेकान्तवादविरोधिभिरिति हृदयम् । **दुर्नीतिवादव्यसनाऽसिना**=दुर्नीतिवादो दुर्नयपक्षस्तत्र व्यसनमनिष्टे सत्यपि तदविगणय्यैव साग्रहं प्रवृत्तिः, तदेवेष्टविच्छेदकत्वादसिः, तेन, **अशेषम्** = समस्तम्, अपिना न बन्धाद्येव, किन्तु तदपलापमुखेनाऽविकलम्, **जगत्**=संसारः, **विलुप्तम्**=विलोप्तुं प्रक्रान्तम् । एवञ्च जगदुच्छेदे तस्याऽप्यपलाप इति धिगात्मनोऽप्यपलापिनमिति भावः ॥२७॥

तदेव दुर्नयस्य दुरन्ततामन्वीक्ष्यैव नयप्रमाणयोरादरो भगवत इत्याह—

सदेव, सत्, स्यात्सदिति त्रिधार्थो
मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाण-
पथेन दुर्नीतिपथ त्वमास्थः ॥२८॥

अन्वय—दुर्नीतिनयप्रमाणै सदेव, सत्, स्यात्सदिति त्रिधा अर्थ मीयेत, त्व तु यथार्थदर्शी नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथम् आस्थ ॥२८॥

व्याख्या—दुर्नीतिनयप्रमाणे=दुर्नीतिरेकान्तवाद । नय इतर-धर्मनिषेधोदासीनविवक्षितधर्मात्मना वस्तुपरिच्छेद, स च नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतभेदात्सप्तविध । नय-विषये विशेष जिज्ञासुभिराकरोऽवलोकनीय । प्रमाण चाऽनन्तधर्मात्मना वस्तुपरिच्छेदकवाक्यसमूहरूपा सप्तभङ्गी, तै कृत्वा, सदेव=घटादि वस्तु सत्त्वरूपमेव, न कथञ्चिदप्यसदित्यवधारणफलम् । यथाक्रम सम्बन्धो बोध्य । सत्=घटादि वस्तु सत्, सतप्यन्यो धर्मोऽविवक्षयैवाऽनुल्लिखितो नत्वभावन इति दुर्नीतेरत्र वैलक्षण्यम् । स्यात्सत् = घटादिवस्तु कथञ्चित्सत्, अत्र कथञ्चिदित्युक्त्या प्रकारान्तरेण तत्र धर्मान्तरसत्त्वमपि सदैव प्रतिपादितमिति दुर्नी

तिनयाभ्यामत्र विशेषः । इति=अनेन रूपेण, त्रिधा=प्रकारत्रयेण, अर्थः=घटादि वस्तु, मीयेत=परिच्छिद्येत । अत्र 'अर्थः सदि' त्येवमादिरूपेणाऽन्वयोऽनुपपन्नः, न हि सच्छब्दो नित्यक्लीव इति सुधीभिश्चिन्तनीयम् । ननु ततः किमित्याह—त्वम् = भवान् जिनेश्वरः, तुर्विशेषे, तमेवाह—यथार्थदर्शी = अर्थमनतिक्रम्य पश्यतीति स तादृशः, यथावस्थितवस्तुज्ञानवान्, अतएव, नयप्रमाणपथेन=नयप्रमाणरूपेण वस्तुपरिच्छेदप्रकारेण द्वारभूतेन, दुर्नीतिपथम्=दुर्नीतिमार्गम्, दुर्नीतिरूपवस्तुपरिच्छेदप्रकारमित्यर्थः । आस्थः=निरस्तवानसि । नयप्रमाणे आश्रितवानसि, दुर्नीतिं च निरस्तवानसीत्यर्थः । वस्तु ह्यनन्तधर्मात्मकम्, तत्रैकमात्रधर्मस्वीकारश्चाऽज्ञानमूलक एव सम्भाव्यते, अतो ज्ञानिनस्तव तथा परिच्छेदोऽनिष्ट इति स त्वया निरस्तः । नयेन च धर्मान्तराऽनिषेधात्, व्यवहारनिर्वाहार्थं स आश्रितः । प्रमाणेन च यथावद्वस्तुपरिच्छेद इति स परमार्थतयाऽऽश्रितः । एकान्तवादोक्तदोषाश्चाऽत्र न सम्भवन्ति, नित्यानित्याद्यात्मकजातिविशेषस्वीकारेण पर्यायात्मनाऽऽत्मनि सुखदुःखाऽनुभवस्य पुण्यपापक्रियाकर्तृत्वस्य बन्धस्य मोक्षस्य च, द्रव्यरूपेण नित्ये सामानाधिकरण्यसम्भवादिति निर्दुष्टयथावस्थितवस्तुपरिच्छेदप्रकाराऽङ्गीकारविचारवान् भवानतिशेत इति भवानेवाऽऽप्त, इति भावः ॥२८॥

अधुना परिमितात्मवादिनो दूषयन् जीवानन्त्य समर्थयन् जिनस्य ज्ञानाऽतिशय भङ्गया स्तौति—

मुक्तोऽपि वाऽभ्येतु भव भवो वा
भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे ।
षड्जीवकाय त्वमनन्तसङ्ख्य-
माख्यस्तथा नाथ ! यथा न दोषः ॥२९॥

अन्वय —नाथ ! मितात्मवादे मुक्तोऽपि वा भवमभ्येतु, भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु, त्व तथा षड्जीवकायमनन्तसङ्ख्यमाख्य, यथा न दोष ॥२९॥

व्याख्या—नाथ=स्वामिन् !, मितात्मवादे = मित एतावानित्येव मानयुक्त आत्मा इत्येव यो वादोऽभ्युपगमस्तत्र, सङ्ख्यातेऽसाङ्ख्याते वाऽऽत्मनि स्वीकृते, मुक्त.=क्षीणकर्मा, अपि वेति दोषान्तरसमुच्चये । भवम्=जगत्, यतो मुक्तस्तमेवेति भाव । अभ्येतु=आगच्छतु, प्राप्नोत्वित्यर्थ । एवञ्च मुक्तिशब्दस्यैव मुक्तिप्रसङ्ग, बन्धमुक्त्यो वैलक्षण्याऽभावादिति सूचितम् । ननु किमर्थं सोऽभ्येत्विति प्रश्ने भङ्गयोत्तरमाह—भवः=जगदेव, वाकार पूर्वेणोपसमुच्चये । भवस्थशून्यः=भवे तिष्ठतीति स भवस्थो देही, तेन कृत्वा, शून्यो रहित, अस्तु=भवतु । सम्भावनाया पञ्चमी । अयभाव — कालोऽनादिरनन्त, तथा चाऽऽत्मन परिमितत्वे यदाकदाचित्सर्वेषा

ज्ञानेन मुक्तिः सम्भाव्यत एव, एवञ्च भवविलोपः । अन्यथा मुक्तोऽपि पुनर्भवमागच्छतीति स्वीकर्तव्यम् । तथाऽऽगमनस्वीकारे च भव एव, न पुनर्मुक्तिः काऽपि, तस्या अपुनर्बन्धस्वभावत्वात् । एवञ्च मुक्तेरपलाप इत्युभयतः पाशारज्जुः । मितात्मवादे एतद्दोषद्वयस्याऽनिवारणीयतया तद्दोपनिवारणाय जीवानन्त्यप्रतिपादकं भगवदुक्तिं स्तौति–त्वम्=भवान्, तुर्विशेषे भेदे च, ततो भिन्नं विशिष्टं चेत्यर्थः । किन्तदित्याह–तथा=तेन प्रकारेण, षड्जीवनिकायम् = पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसरूपेण षड्विधजीवसङ्घम्, अनन्तसङ्ख्यम्=न अन्तो यस्याः सा सङ्ख्या यस्य, तादृशम्, अपरिमितमित्यर्थः । आख्यः = उपादिशः, यथा=येन प्रकारेण, दोषः = भवविलोपमुक्त्यपलापाऽऽपत्तिरूपो दोषः, न = निराक्रियते इत्यर्थः । अनन्ताऽऽत्मस्वीकारे न कदापि तदनन्तत्वहानिः सम्भाव्यते, अन्यथाऽनन्तत्वमेव व्याहन्येतेत्यनन्तानामपि जीवाना मुक्तावप्यनन्ता एव जीवा भवे भवेयुरिति न भवविलोपः, तथा च न मुक्त्यपलापोऽपि, भवविलोपनिवारणार्थमेव तत्सम्भावनात्तदभावे तदभावादिति भावः ॥२९॥

एकान्तपरिहारेण सर्वनयात्मकवस्तुस्वीकारे जगति निरस्तं विरोधेनेति जगद्धितप्रवृत्तिकत्वं व्यनयन् जिनस्य वीतरागत्वं भङ्ग्या स्तौति—

अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावा-
यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयानशेषानविशेषमिच्छ-
न्न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥३०॥

अन्वय —परे प्रवादा अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा मत्सरिण, अशेषान् नयान् अविशेषम् इच्छन् पक्षपाती ते समय तथा न ॥६०॥

व्याख्या —परे=भवत्समयादन्ये, प्रवादाः=प्रकर्षेणोद्यते प्रतिपाद्यते स्वाऽभ्युपेतोऽर्थ एभिरिति ते, प्रवचनानीत्यर्थ । अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्=अन्योन्य परस्पर य पक्षे धर्मिणि पदार्थे प्रति पक्षस्य विरुद्धधर्मस्य नित्याऽनित्यत्वादिकस्य भाव उपन्यास, तस्मा द्धेतो, यथा=येन प्रकारेण, मत्सरिण =अत्यन्ताऽसहिष्णव, एकेनाऽपरस्य निर्दय खण्डनादिति भाव । अशेषान्=समस्तान्, नयान्=नैगमादीन्, अविशेषम्=अभेदेन सामानाधिकरण्येन च एकान्तवादिपरिच्छिन्नाना धर्माणा तदितरेषा च वस्तुतत्त्वानुरोधे-नेतरनिषेधतात्पर्यरहितत्वेन रूपणैकत्वेव, इच्छन्=स्वीकुर्वन्, अन्य-थैकान्ताऽऽपत्तेरिति भाव, अत एव, पक्षपाती=रागनिमित्त वस्तु स्वीकार पक्ष, त, पातयति नाशयतीत्येव शील, एकतरपक्षा-श्रयणरागरहित, वीतरागाप्तत्वात्तजन्मत्वात् । कथमन्यथाऽन्य-

त्राऽपि न तथेतिभावः । ते=तव जिनस्य, समयः=सिद्धान्तः, तथा=तादृशः, न=नैव, मत्सरीति वचनविपरिणामेन सम्बध्यते । परे स्वयं रागादिमन्त इति तेषां प्रवादा अपि तथा, कार्यशुद्धेः कारणशुद्ध्यधीनत्वात्, त्वं तु स्वयं वीतराग इति तव समयोऽपि न रागादिमानिति निर्विरोधं प्रतिपादयंस्त्वं जगद्धितप्रवृत्तिक इति त्वमेवाऽऽप्तो वीतरागत्वात्, नाऽन्ये इति भावः ॥२०॥

एवमेतावता प्रबन्धेन भगवतो यथावस्थितपदार्थज्ञत्वं तद्वचनविवेचनेन समर्थ्याऽशेषेण तद्वचनविवेचने स्वस्याऽसामर्थ्यं सूचयन् भगवद्वचनस्याऽगम्यत्वं सत्यपि प्रयासे दुर्लभत्वं चाऽऽह—

वाग्वैभवं ते निखिलं विवेक्तु-
माशास्महे चेन्महनीयमुख्य ! ।
लङ्घेम जङ्घालतया समुद्रं
वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम् ॥२१॥

अन्वयः—महनीयमुख्य ! ते निखिलं वाग्वैभवं विवेक्तुमाशास्महे चेत्, जङ्घालतया समुद्रं लङ्घेम, चन्द्रद्युतिपानतृष्णां वहेम ॥२१॥

व्याख्या—महनीयमुख्य !=महनीयेषु पूजनीयेषु मुख्यः श्रेष्ठः, सर्वपूज्य ! इत्यर्थः । मुख्यता चोपपादितरीत्याऽऽप्तत्वस्य तदेकाऽऽ-

श्रयत्वाद्बोध्यम । ते=तव जिनस्य, निखिलम्=समग्रम् । वाग्वैभवम्= वाङ्मयसमृद्धिम्, विवेक्तुम् = परीक्षितुम्, एतावत्प्रबन्धप्रकारेण विविच्याऽवधारयितु वा, आशास्महे=इच्छाम, चेद्=यदि, तत किमित्याह=जङ्घालतया=जङ्घामात्रसाधनेन कृत्वा, पोतादिक विना प्रादचारमात्रेणेतियावत् । प्रशस्ता दीर्घा वा जङ्घा यस्याऽस्ति स जङ्घाल इत्युच्यते । उपलक्षणत्वाद्दक्षतयेत्यर्थ । समुद्रम्=पारावारम्, लङ्घेम=अतिक्राम्येम, त्वद्वाग्वैभवस्य विवेकेनाऽवधारण यदा समुद्रलङ्घनमिव दुःस्यमाध्यमिति तत्र वाग्वैभव समुद्र इवाऽतिविपुल त्वादगम्य इतिभाव । एतेन भगवतोऽनन्तज्ञानवत्त्व ध्वनितम्, तद्विना तद्वाचस्तत्त्वाऽसम्भवादिति बोध्यम् । प्रयत्नस्याऽपि तस्य दौर्लभ्यमाह=चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम्=चन्द्रस्य द्युतीना पानस्य तृष्णामभिलाषाम्, वहेम=धारयेम, इत्थ सम्भाव्यते इति यावत् । अमृतलोभात्कृतोऽपि प्रयासो न फलेच्चकोरादन्यस्य चन्द्रकिरण पाने, तथा भक्तादन्यस्य त्वद्वाग्वैभव प्रयत्स्याऽपि दुर्लभ इति भाव ॥३१॥

तदेवमन्ययोगव्यवच्छेदेन सिद्धमाप्तत्व स्तुवन्नुपसहरति—

इद तत्त्वाऽतत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे,
जगन्मायाकारैरिव हतपरै र्हा ! विनिहितम् ।
तदुद्धर्तुं शक्तो नियतमविसंवादिवचन-
स्त्वमेवाऽनाप्तत्वयि कृतसपर्या कृतधिय ॥३२॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिताऽन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिः समाप्ता ॥

अन्वयः—हतपरैः मायाकारैः इव इदं जगत् तत्त्वाऽतत्त्वव्यतिकरकराले अन्धतमसे विनिहितम्, हा!, तद् उद्धर्त्तुं नियतम् अविसंवादिवचनः त्वमेव शक्तः, त्रातः! अतः कृतधियः त्वयि कृतसपर्याः ॥३२॥

व्याख्या–हतपरैः=हता अनिष्टाचरणाद् हता इव पतिताः परे एकान्तवादिनः, तैः, मायाकारैः=ऐन्द्रजालिकैरिव, इदम्=दृश्यमानम्, जगत्=उपलक्षणत्वाज्जगज्जीवः, तत्त्वाऽतत्त्वव्यतिकरकराले=तत्त्वमतत्त्वमतत्त्वं च तत्त्वमित्येवं यो व्यतिकरः सम्मिश्रणम्, अयथार्थज्ञानम्; तेन कृत्वा कराले भयङ्करे, अयथार्थज्ञानस्याऽनर्थजनकत्वादिति भावः। अन्धतमसे=निबिडाऽज्ञानरूपाऽन्धकारे, अन्धं तमोऽन्धतमसम्, तस्मिन्। विनिहितम्=प्रक्षिप्तम् न्यस्तं वा। यथा ह्यैन्द्रजालिकोऽतस्मिन् रज्ज्वादौ सर्पादिबुद्धिं स्वकौशलेनोत्पाद्य जनानज्ञाने स्थापयति, तथा परैरप्यतत्त्वे एकान्ते तत्त्वबुद्धिमुत्पाद्य जना अज्ञानान्धकारे पातिता इत्यर्थः। तदेतद्, हा!=खेदविषयः। जनवञ्चनं शोचनीयमित्यर्थः। ननु तर्हि कस्त्राणोपाय इति चेत्तत्राह–तद्=तादृशं परवञ्चितं जगत्, उद्धर्त्तुम्=अज्ञानादाकृष्य ज्ञाने स्थापयितुम्, नियतम्=अव्यभिचारेण, अविसंवादिवचनः=यथास्थितवस्तुवक्ता, पूर्वविहितपरीक्षया तन्निश्चयादिति भावः। त्वम्=

भवान् जिनेश्वर एव, नाऽन्य कोऽपीत्यर्थ । सर्वेषामेव त्वदतिरिक्तानामेकान्तकलितत्वादिति भाव । शक्त =प्रभु, अनानाद्धि यथार्थवक्तैव त्राणसाधनम्, यथार्थवाचा यथार्थज्ञानाऽनुमानात्, ज्ञानेन च विरोधितयाऽज्ञानपराभवादिति भव । त्रातः=यथार्थोपदेशेनाऽज्ञानान्धकारविनाशपूर्वकं ज्ञानरूपाऽभयाऽऽश्रयप्रदायक ।, अत'=उक्तप्रकारसामर्थ्यसत्त्वाद्धेतोरेव, कृतधिय =प्रेक्षापूर्वकारिण, त्वयि=भवन्येव, कृतसपर्या =सेवाबुद्धय, यतस्त्राण तमेव सेवन्ते स्वहितैषिण इति भाव । त्वमेवाऽसि वाक्यवचनतया सर्वतोऽप्याप्त इति त्वमेव सेव्य इत्यन्ययोगव्यवच्छेद आसत्त्वम्येति हृदयम् । शिखरिणीच्छन्द ॥३२॥

गणिना कीर्तिचन्द्रेण व्याख्या कीर्तिकलाऽभिधा ।
कृता द्वात्रिंशिकाव्याख्याऽस्वाग धिनो जिन ॥१॥

बाणचन्द्रनमोनेत्रमितेऽब्दे पूर्णतामगात् ।
वेंगलोरपुरे मौन्यामेकादश्यां तिथाविमम् ॥२॥

यद्यपि नैका व्याख्या पूर्वगा सन्ति विस्तृतग्रन्था ।
नागीर्व्विव तन्वङ्गी सुश्लिष्टा काऽपि मे मेदम् ॥३॥

यत्पुष्पकृत्ना भवेसुन्दरतया विनिनासव किमपि ।
मन्ये तेन कृतार्थे मावपत्र तमिराऽऽस्मानम् ॥४॥

स्खलितं यद्भवेदत्र प्रमादान्मतितानवात् ।
मृष्यतां गुणगृह्यैस्तत्क्षुण्णतुण्डेन घोष्यताम् ॥५॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राऽऽचार्यविरचिताऽन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतेः श्रीतपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकबालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्काररसमयज्ञशान्तमूर्त्याचार्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरपट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृतविद्विशारदाऽऽचार्यवर्यश्रीकस्तुरसूरीश्वरशिष्यश्रीकीर्त्तिचन्द्रविजयगणिविरचिता कीर्तिकलाख्या व्याख्या समाप्ता ॥



साधना छापाखाना 66–1 5 वॉ मैन रोड, गान्धी नगर, बेंगलोर–9

॥ अर्हम् ॥

श्री विजयनेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

॥ अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिः ॥

अगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं वचस्विनामक्षवतां परोक्षम् ।
श्रीवर्द्धमानाभिधमात्मरूपमहं स्तुतेर्गोचरमानयामि ॥ १ ॥
स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न किं, गुणानुरागस्तु ममापि निश्चलः ।
इदं विनिश्चित्य तव स्तवं वदन् न बालिशोऽप्येष जनोऽपराध्यति ॥
क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था?, अशिक्षितालापकला क्व चैषा? ।
तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ॥ ३ ॥
जिनेन्द्र ! यानेव विबाधसे स्म दुरन्तदोषान् विविधैरुपायैः ।
त एव चित्रं त्वदसूययेव कृताः कृतार्थाः परतीर्थनाथैः ॥ ४ ॥
यथास्थितं वस्तु दिशन्नधीश ! न तादृशं कौशलमाश्रितोऽसि ।
तुरङ्गशृङ्गाण्युपपादयद्भ्यो नमः परेभ्यो नवपण्डितेभ्यः ॥ ५ ॥
जगन्त्यनुध्यानबलेन शश्वत् कृतार्थयत्सु प्रसभं भवत्सु ।
किमाश्रितोऽन्यैः शरणं त्वदन्यः स्वमांसदानेन वृथा कृपालुः? ॥
स्वयं कुमार्गं लपतां नु नाम प्रलम्भमन्यानपि लम्भयन्ति ।
सुमार्गगं तद्विदमादिशन्तमसूययान्धा अवमन्वते च ॥ ७ ॥

प्रादेशिकेभ्यः परशासनेभ्यः पराजयो यत्तव शासनस्य ।
खद्योतपोतद्युतिडम्बरेभ्यो विडम्बनेयं हरिमण्डलस्य ॥ ८ ॥
शरण्य ! पुण्ये तव शासनेऽपि संदेग्धि यो विप्रतिपद्यते वा ।
स्वादौ स तथ्ये स्वहिते च पथ्ये संदेग्धि वा विप्रतिपद्यते वा ॥ ९ ॥
हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशादसर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः ।
नृशंसदुर्बुद्धिपरिग्रहाच्च ब्रूमस्त्वदन्यागममप्रमाणम् ॥ १० ॥
हितोपदेशात् सकलज्ञकॢप्तेर्मुमुक्षुसत्साधुपरिग्रहाच्च ।
पूर्वापरार्थेष्वविरोधसिद्धेस्त्वदागमा एव सतां प्रमाणम् ॥ ११ ॥
क्षिप्येत वाऽन्यैः सदृशीक्रियेत वा तवाङ्घ्रिपीठे लुठनं सुरेशितुः ।
इदं यथावस्थितवस्तुदेशनं परैः कथङ्कारमपाकरिष्यते ? ॥ १२ ॥
तद्दुःषमाकालखलायितं वा पचेलिमं कर्म भवानुकूलम् ।
उपेक्षते यत्तव शासनार्थमयं जनो विप्रतिपद्यते वा ॥ १३ ॥
परःसहस्राः शरदस्तपांसि युगान्तरं योगमुपासतां वा ।
तथापि ते मार्गमनापतन्तो न मोक्ष्यमाणा अपि यान्ति मोक्षम् ॥१४॥
अनाप्तजाड्यादिविनिर्मितित्वसम्भावनासम्भविविप्रलम्भाः ।
परोपदेशाः परमाप्तकॢप्तपथोपदेशे किमु संरभन्ते ? ॥ १५ ॥
यदार्जवादुक्तमयुक्तमन्यैस्तदन्यथाकारमकारि शिष्यैः ।
न विप्लवोऽयं तव शासनेऽभूदहो ! अधृष्या तव शासनश्रीः ॥ १६ ॥
देहाद्ययोगेन सदाशिवत्वं, शरीरयोगादुपदेशकर्म ।
परस्परस्पर्धि कथं घटेत परोपकॢप्तेष्वधिदैवतेषु ? ॥ १७ ॥

प्रागेव देवान्तरसश्रितानि रागादिरूपाण्यवमान्तराणि ।
न मोहजन्या करुणामपीश ! समाधिमाध्यस्थ्ययुगाश्रितोऽसि ॥१८॥
जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुनर्यथा तथा वा पतय प्रवादिनाम् ।
त्वदेकनिष्ठे भगवन् ! भवक्षयक्षमोपदेशे तु पर तपस्विन ॥१९॥
वपुश्च पर्यङ्कशय श्लथ च, दृशौ च नासानियते स्थिरे च ।
न शिक्षितेय परतीर्थनाथैर्जिनेन्द्र ! मुद्राऽपि तवान्यदास्ताम् ॥२०॥
यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमो भवादृशाना परमस्वभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ॥ २१ ॥
अपक्षपातेन परीक्षमाणा द्वय द्वयस्याप्रतिम प्रतीम ।
यथास्थितार्थप्रथन तवैतदस्थाननिर्बन्धरस परेषाम् ॥ २२ ॥
अनाद्यविद्योपनिषन्निषण्णैर्विशृङ्खलैश्चापलमाचरद्भि ।
अमूढलक्ष्योऽपि पराक्रिये यत् त्वत्किङ्कर किं करवाणि देव ! ॥
विमुक्तवैरव्यसनानुबन्धा श्रयन्ति या शाश्वतवैरिणोऽपि ।
परैरगम्या तव योगिनाथ ! ता देशनाभूमिमुपाश्रयेऽहम् ॥ २४ ॥
मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन च सम्मदेन ।
पराजिताना प्रसभ सुराणा वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ॥ २५ ॥
स्वकण्ठपीठे कठिन कुठार परे किरन्त प्रलपन्तु किञ्चित् ।
मनीषिणा तु त्वयि वीतराग ! न रागमात्रेण मनोऽनुरक्तम् ॥ २६ ॥
सुनिश्चित मत्सरिणो जनस्य न नाथ ! मुद्रामतिशेरते ते ।
माध्यस्थ्यमास्थाय परीक्षका ये मणौ च काचे च ममानुबन्धा ॥२७

इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोषामवघोषणां ब्रुवे ।
न वीतरागात् परमस्ति दैवतं न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः ॥ २८ ॥

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीर ! प्रभुमाश्रिताः स्मः ॥२९॥

तमःस्पृशामप्रतिभासभाजं भवन्तमप्याशु विविन्दते याः ।
महेम चन्द्रांशुदृशोऽवदातास्तास्तर्कपुण्या जगदीश ! वाचः ॥ ३० ॥

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन् ! नमोऽस्तु ते ॥ ३१ ॥

इदं श्रद्धामात्रं तदथ परनिन्दां मृदुधियो
विगाहन्तां हन्त ! प्रकृतिपरवादव्यसनिनः ।
अरक्तद्विष्टानां जिनवर ! परीक्षाक्षमधिया-
मयं तत्त्वालोकः स्तुतिमयमुपाधिं विधृतवान् ॥ ३२ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञ–श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता
अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिः समाप्ता ॥



अर्हम्

॥ श्रीविजयनेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ॥

॥ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिः ॥

अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्द्धमानं जिनमाप्तमुख्यं स्वयम्भुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ॥ १ ॥
अयं जनो नाथ ! तव स्तवाय गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।
विगाहतां किन्तु यथार्थवादमेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः ॥ २ ॥
गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।
तथापि सम्मील्य विलोचनानि विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम् ॥ ३ ॥
स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपाः ।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद् द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥ ४ ॥
आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥ ५ ॥
कर्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ ६ ॥
न धर्मधर्मित्वमतीवभेदे, वृत्त्याऽस्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति ।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ, न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ॥ ७ ॥

सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता, चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत् ।
न संविदानन्दमयी च मुक्तिः, सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयैः ॥ ८ ॥

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत् ।
तथापि देहाद् बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥ ९ ॥

स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जनेऽस्मिन् ।
मायोपदेशात् परमर्म भिन्दन्नहो ! विरक्तो मुनिरन्यदीयः ॥ १० ॥

न धर्महेतुर्विहिताऽपि हिंसा, नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च !
स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम् ॥ ११ ॥

स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः प्रकाशते नार्थकथाऽन्यथा तु ।
परे परेभ्यो भयतस्तथापि प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥

माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धिरथासती हन्त ! कुतः प्रपञ्चः ? ।
मायैव चेदर्थसहा च तत्किं ? माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम् ॥१३

अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं, द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् ।
अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्तावतावकानां प्रतिभाप्रमादः ॥ १४ ॥

चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः, शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि ।
न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति कियज्जडैर्न ग्रथितं विरोधि ॥ १५ ॥

न तुल्यकालः फलहेतुभावो, हेतौ विलीने न फलस्य भावः ।
न संविदद्वैतपथेऽर्थसंविद्, विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ॥ १६ ॥

विना प्रमाणं परवन्न शून्यः स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत ।
कुप्येत् कृतान्तः स्पृशते प्रमाणमहो ! सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम् ॥ १७ ॥

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो ! महासाहसिकः परस्ते ॥ १८ ॥
सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च नाभेदभेदाऽनुभयैर्घटेते ।
ततस्तटादर्शिशकुन्तपोतन्यायात् त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ॥ १९ ॥
विनाऽनुमानेन पराभिसन्धिमसंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।
न साम्प्रतं वक्तुमपि क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं च हहा ! प्रमादः ॥२०
प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगिस्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ॥२१
अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।
इति प्रमाणान्यपि ते कुवादिकुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः ॥ २२ ॥
अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।
आदेशभेदोदितसप्तभङ्गमदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम् ॥ २३ ॥
उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥ २४ ॥
स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥ २५ ॥
य एव दोषाः किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु जयत्यधृष्यं जिन ! शासनं ते ॥ २६ ॥
नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥ २७ ॥

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधाऽर्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थः ॥ २८ ॥
मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवं भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे ।
षड्जीवकायं त्वमनन्तसङ्ख्यमाख्यस्तथा नाथ! यथा न दोषः ॥२९॥
अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणःप्रवादाः ।
नयानशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥
वाग्वैभवं ते निखिलं विवेक्तुमाशास्महे चेन्महनीयमुख्य ! ।
लङ्घेम जङ्घालतया समुद्रं वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम् ॥ ३१ ॥

इदं तत्त्वाऽतत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे
जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा ! विनिहितम् ।
तदुद्धर्तुं शक्तो नियतमविसंवादिवचन-
स्त्वमेवातस्त्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः ॥ ३२ ॥

इतिकलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता
अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिःसमाप्ता ।



॥ अर्हम् ॥

श्री विजयनेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः।

॥ अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिः ॥
॥ कीर्तिकलाख्यो हिन्दीभाषाऽनुवादः ॥

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य महाराज जिनेश्वर आप्त ही हैं, इस अभिप्राय से तीर्थङ्कर महावीर भगवान की स्तुति का प्रारम्भ करते हैं—

जो योगियों के भी जानने योग्य नहीं है, शब्द प्रयोग में चतुर ऐसे कवि आदि के भी वर्णन करने योग्य नहीं है, तथा समर्थ=स्थूलसूक्ष्मग्राही=इन्द्रियवालों के भी जो परोक्ष है। (क्यों कि मुक्त आत्मा निर्गुण होती है। और निर्गुण पदार्थ मन, ज्ञान, वाणी, तथा इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता।) तथा (कीर्ति आदि गुणों के क्षण क्षण में बढ़ते रहने के कारण, सगुण अवस्था में) जो वर्धमान नाम से ख्यात है, ऐसे परमात्मा की मैं स्तुति करता हूँ ॥ १ ॥

(यद्यपि ऐसे परमात्मा की स्तुति मेरे जैसे अज्ञान मे

अशक्य है, किन्तु) हे ! भगवन् ! आप की स्तुति में योगी भी असमर्थ नहीं हैं क्या ? । (यदि ऐसा कहा जाय की असमर्थ होने पर भी योगी लोग भगवान् के गुणों में अनुराग होने के कारण स्तुति करने में प्रवृत्त होते हैं, क्यों कि प्रेम से असाध्य कार्य में भी लोग प्रवृत्त होते हैं, तो) गुणों के विषय में मेरा भी अनुराग दृढ तथा स्थिर है । इस विचार से आप की स्तुति करता हुआ अल्पज्ञ भी यह जन कोई अपराध नहीं करता है । यदि गुण में अनुराग से एक असमर्थ की प्रवृत्ति अपराध नही है, तो दूसरे की भी वह प्रवृत्ति अपराध नही है । दोष सब के लिये दोष होता है, एक के लिये ही नही । ॥ २ ॥

श्री सिद्धसेन दिवाकर कृत महान् अर्थवाली आप की स्तुति कहां ?, और अल्पज्ञ ऐसे मेरी टूटी फूटी वाणी कहां ? । (दोनों मे बहुत अधिक अन्तर है ।) तथापि गजेन्द्र का अनुसरण करता हुआ ठेस खाता लंगराता उसका बच्चा उपालम्भ का पात्र नही । (मैं भी महान् का अनुसरण करते हुए ही स्तुति में प्रवृत्त हुआ हूँ । इसलिये उस में त्रुटि होने परभी, उसको आलोचना का विषय नही मानना चाहिये ।) ॥ ३ ॥

(जिनेन्द्र के सिवाय अन्य तीर्थङ्करों की स्तुति इष्ट नहीं है । क्यों कि) हे जिनेन्द्र ! मुक्ति तथा तत्त्वज्ञान आदि के विरोधी होने के कारण जिन अनर्थकारी हिंसा स्त्रीपरिग्रह आदि, अथवा राग-

द्वेष आदि दोषों को आपने चारित्र पालन आदि अनेक उपायों के द्वारा दूर किये। उन दोषों को हीं, दूसरे तीर्थों के प्रवर्त्तकों ने आप के गुणों में दोषों के आरोप करने के कारण हीं जैसे, साथक किये हैं। यह आश्चर्य है। (जो गुण में दोष का आरोप करता है, वह दोष को गुण मान कर स्वीकार कर लेता है। अन्यथा गुण में दोष का आरोप नहीं किया जा सकता। इसलिये दूसरे तीथङ्कर इस दोष को स्वीकार कर स्वयदूषित हो गये हैं। इसलिये दोष साथक हुआ। दूषित करने से दोष कहा जाता है। आपने तो उसका त्याग हीं कर दिया है, यदि दूसरे भी उसका त्याग कर दें तो किसीको दूषित नहीं करने के कारण दोष निरर्थक हो जाता। विवेकी लोगों की ऐसी प्रवृत्ति देखी नहीं गयी, इसलिये यह आश्चर्य है। इस प्रकार आप राग-द्वेष आदि दोषों से रहित हैं। तथा दूसरे तीथङ्कर द्वेष आदि दोषों से युक्त हैं। इसलिये उनकी स्तुति इष्ट नहीं। गुणवान् की स्तुति की जाती है, दोषी की नहीं।) ॥४॥

हे वीर जिन! यथार्थ स्वरूप में वस्तु का उपदेश देने के कारण आप दूसरे तीर्थंकरों के जैसा कौशल नहीं रखते हैं। (वस्तु अनेकान्त रूप है, उस रूप में उसका प्रतिपादन करना कौशल नहीं। क्यों कि वस्तु स्वयं उस रूप में है। दूसरे रूप से प्रतिपादन करना तो कौशल के बिना सम्भव नहीं। इसलिये) घोड़े के सींग के जैसे असत् एकान्त को प्रतिपादन करते हुए विचित्र प्रतिभा वाले दूसरे तीर्थंकरों को नमस्कार हो। (आप यथार्थ कहने

वाले हैं। दूसरे नहीं। इसलिये उनको दूर से हीं नमस्कार करना चाहिये। उनसे सूनना या उनका अनुसरण योग्य नहीं।) ॥५॥

हे जिनेन्द्र ! केवलज्ञानालोक से प्रत्यक्ष देखने के कारण (निष्कारण वत्सलता से) सदा हीं आग्रह पूर्वक (सदुपदेशादि के द्वारा) जगत को कृतार्थ करते रहने पर भी, दूसरे लोगों के द्वारा (जीव को बचाने के लिये बाघ को) अपना मांस देकर व्यर्थ के दयालु कहलाने वाले आपसे भिन्न तीर्थंकर क्या आश्रित किये गये हैं ? । (दयालुता उन में नही है। क्यों कि एक जीव को बचाने के लिये अपना मांस देकर मांस में रहनेवाले अनेक जीवों के नाश में कारण बने। ऐसी स्थिति में सर्वजीवों को कृतार्थ करने वाले आपका आश्रय ही उचित है।) ॥ ६ ॥

हे जिनेन्द्र !, (उन को समझाया भी नही जा सकता, क्यों कि-) वे लोग स्वयं तो कुमार्ग को प्राप्त करते ही है, साथ ही धर्म की जिज्ञासा से पूछनेवाले को भी कुमार्ग में ही ले जाते हैं। तथा गुण में दोष देखने के कारण अन्धों के जैसे ही दोषों के न देखने वाले वे लोग, सन्मार्ग के जानने वाले, सन्मार्ग पर चलने वाले तथा हितबुद्धि से सन्मार्ग के बतलाने वाले का आदर नहीं करते। (इसलिये केवल आप हीं सन्मार्ग के जानने वाले, सन्मार्ग पर चलने वाले तथा सन्मार्ग उपदेश देने वाले हो, दूसरे नहीं) ॥ ७ ॥

हे जिनेन्द्र ! दूसरे तीर्थंकरो के सिद्धान्त एकान्तवाद हैं, क्यों कि वह पदार्थ के किसी एक अंशका हीं प्रतिपादन करते हैं । आप का सिद्धान्त तो अनेकान्तवाद है, क्यों कि वह वस्तु में रहनेवाले अनन्त धर्मों का प्रतिपादन करता है । इसलिये एकदेशी पर शासनों से आपके सार्वदेशिक शासन की पराजय की बात, जुगनू के प्रकाशके आडम्बर से सूर्यमण्डल का पराभव जैसा हीं है । (एकान्त वाद एकदेश को प्रकाशित करने वाले या एकदेशी राजाके समान है, तथा अनेकान्तवाद सर्व अंश को प्रकाशित करने वाले सूर्यमण्डल के समान या सार्वभौमचक्रवर्ती राजा के समान है । इसलिये दोनों मे जयपराजय की बात ही असङ्गत है ।) ॥८॥

हे पालनहार ! जिनेन्द्र ! (युक्तियुक्त तथा सन्मार्गप्रदर्शक होनेके कारण) पवित्र सत्य तथा पुण्यकारक ऐसे आपके शासन में, जो सन्देह तथा अश्रद्धा करता है, वह रुचिकर तथा हितकर पथ्य में सन्देह तथा अश्रद्धा करने वाले (रोगी) के समान है । (वह कभी भी भव रोग से मुक्ति नहीं पा सकता है) ॥ ९ ॥

हे जिनेन्द्र ! आप से भिन्न तीर्थंकरों के आगम प्रामाणिक नहीं हैं, । क्यों कि वे हिंसा आदि से सम्पन्न होने वाले यज्ञ आदि असत् कर्ममार्ग का उपदेश करने वाले हैं । सर्वज्ञ के द्वारा उन आगमों की रचना नहीं हुई है । तथा क्रूर एवं दुर्बुद्धि लोग हीं उन आगमों का स्वीकार करने वाले हैं । (ये सब प्रामाणिक आगम के लक्षण नहीं हैं) ॥ १० ॥

हे जिनेन्द्र ! आपके आगम हीं सज्जनों के लिये प्रमाणभूत हैं। क्यों कि आपके आगम मुक्ति आदि हितकर मार्ग के उपदेश करनेवाले हैं, आप जैसे सर्वज्ञ से रचित हैं, मुमुक्षु, विद्वान्, तथा परोपकारी ऐसे साधुजनों ने उनका स्वीकार किया है। एवं आपके आगम में आगे और पीछे के अर्थों में कहीं भी विरोध नही है। (यही सब प्रामाणिक आगम के लक्षण हैं। दूसरों के आगमों मे तो पूर्व में हिसा का निषेध किया जाता है, आगे जाकर यज्ञादि कार्यों में उसी हिंसा का विधान किया जाता है। इस प्रकार उन आगमो में पूर्व तथा पर पदार्थों में विरोध स्पष्ट ही है।) ॥११॥

हे जिनेन्द्र ! दूसरे लोगों के द्वारा आपके चरणों के आसन पर देवेन्द्र के आलोटने (आप के चरणकमलों में देवेन्द्र द्वारा किये गये प्रणामों) का खण्डन किया जा सकता है। (क्यों कि वह कोई देखता नहीं)। अथवा 'मेरे तीर्थंकर को भी देवेन्द्र प्रणाम करते हैं, ऐसा कहकर, समानता बतलायी जा सकती है। किन्तु आपके यथार्थ स्वरूप में पदार्थ के उपदेश का निराकरण कैसे किया सकता है ?। (क्यो कि वस्तु प्रत्यक्ष हैं। इसलिये उनका अपलाप नहीं किया जा सकता। इसलिये आप केवल यथार्थ स्वरूप में वस्तु के उपदेश देने के कारण आप्त हीं है।) ॥ १२ ॥

हे जिनेन्द्र ! यह दुःषमा आरा का बुरा प्रभाव हीं हो सकता है, अथवा भवपरम्परा को बढाने वाले कर्म का विपाक ही

कहा जा सकता है, कि ये लोग आपके शासन में कहे गये पदार्थों की उपेक्षा करते है, या अश्रद्धा करते हैं। (क्यों कि आप के शासन में श्रद्धा तथा उसका अनुसरण से ही मुक्ति मिल सकती है।) ॥ १३ ॥

हे जिनेन्द्र ! कोई भी व्यक्ति हजारों वर्षों तक तप करे, अथवा युगयुगान्तरों तक योग की उपासना करे, फिर भी आपके बताये मार्ग को स्वीकार किये विना भव्य जीव भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते। (क्यों कि जिनेन्द्र के बताये मार्ग के सिवाय दूसरा कोई भी मुक्ति का मार्ग नहीं है।) ॥ १४ ॥

हे जिनेन्द्र ! दूसरे आगमों के विषय में, 'यह अप्रामाणिक व्यक्ति से रचित है, अल्पज्ञ व्यक्ति से रचित है, या राग द्वेषादि से रचित है' इस प्रकार की सम्भावनाओं के कारण बहुत से आक्षेपों का अवसर है। ऐसी स्थिति में वे आगम, परम आप्त ऐसे आप से बताये गये सन्मार्ग के उपदेश रूप आगम के विषय में आक्षेप की धृष्टता कैसे कर सकते हैं ? (जो स्वयं दुष्ट है, वह दूसरे निर्दुष्ट वस्तु को दूषित करने में समर्थ नहीं हो सकता।) ॥ १५ ॥

हे जिनेन्द्र ! दूसरे तीर्थकरों ने सरल भाव से जो कुछ कहा, उसको उनके शिष्यों ने दूसरा ही रूप दे दिया। (जैसे कणाद ने छः, तथा गौतम ने सोलह पदार्थ गिनाये। उनके शिष्य नव्यनैयायिकों ने सात पदार्थ को ही माना। शङ्कराचार्य ने शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया, किन्तु वाचस्पति मिश्र आदि ने विशिष्टा

देव नहीं सिख पाये हैं, तो दूसरे गुणों की बात हीं क्या ? । (आपका स्थूल गुण भी दूसरे देवों मे नहीं है । तो श्रमसाध्य मुक्ति आदि के उपदेश करने का गुण उन देवों में कैसे हो सकता है ? । इसलिये आप ही सर्वश्रेष्ठ देव है ।) ॥ २० ॥

हे जिनेन्द्र ! जिस में प्रतिपादित सम्यक्त्व के बल से आप जैसे तीर्थङ्करों के पारमार्थिक स्वरूप को जान पाता हूँ । (क्यों कि उसके लिये आगम के सिवाय दूसरा कोई साधन नहीं है ।) तथा जो कुवासना रूपी पाश का नाश करने वाला है । ऐसे आपके शासन को मेरा नमस्कार हो । (दूसरे शासन न तो सम्यक्त्व का प्रतिपादन करने वाले हैं, और न कुवासना का नाश करने वाले हीं है । इसलिये वैसे शासन नमस्कार के योग्य नहीं हैं ।) ॥ २१ ॥

हे जिनेन्द्र ! मध्यस्थ रूप से परीक्षा करता हुआ, आप तथा परदेव–दोनों की दोनों बातें असाधारण हैं, ऐसा निश्चयपूर्वक समझाता हूँ । जैसे=आपका वस्तुओं का यथार्थ रूप से उपदेश, और दूसरे देवों का असतपदार्थ = पदार्थ के अयथार्थ रूप के–प्रतिपादन करने का हठाग्रह । (ऐसे हठाग्रही दूसरे नही, तथा आपके जैसे यथार्थ उपदेश देने वाले भी दूसरे नहीं हैं ।) ॥ २२ ॥

हे जिनेन्द्र ! अनादि ऐसी कुवासना या अर्वाचीन विद्या के रहस्य के जानने वाले, किसी भी नियम के न मानने वाले=मर्यादा-

रहित, और नितण्डावादी ऐसे परतीर्थिकों से जिस प्रकार तिरस्कृत हो रहा हूँ। हे देव! उसके लिये आप जैसे वीतराग का किङ्कर मैं क्या कर सकता हूँ? । जैसे वीतराग अपने अपकारी के प्रति भी उपेक्षा रखते ह । वैसे उनके किङ्कर भी अपमान करने वाले के प्रति उपेक्षा रखें, यही योग्य है, 'यथा राजा तथा प्रजा।') ॥ २३ ॥

हे जिनेन्द्र! जिसको जन्मजात वैरी सिंह मृग आदि भी वैरभाव को त्याग कर आश्रयण करते ह। किन्तु अभव्य होने के कारण जहा परतीर्थिकलोग नहीं पहुच पाते, ऐसे आपके समवरण या उपदेशस्थान का मैं आश्रय लेता हूँ। (क्यों कि आप का उपदेशस्थान भी रागद्वेष का नाश करने वाला है । दूसरे देवों का उपदेशस्थान तो रागद्वेष का बढ़ाने वाला ही हैं । व्यक्ति के महत्त्व से ही स्थान का महत्त्व होता है।) ॥२४॥

हे जिनेन्द्र! मद मान काम क्रोध लोभ और हर्ष के अधीन रहने वाले दूसरे देवों को अकारण ही त्रिभुवन साम्राज्य या ऐश्वर्य का रोग लग गया है । (जो मद आदि से युक्त है, वह स्वय पराधीन है इसलिये उसका साम्राज्य नहीं हो सकता । बल्कि एसे व्यक्ति का साम्राज्य मद आदि का बढानेवाला होने के कारण रोग जैसा ही है। वास्तविक साम्राज्य तो आप जैसे वीतराग का ही कहा जा सकता है।) ॥ २५ ॥

हे जिनेन्द्र ! परतीर्थिक लोग अपने गले पर ही कुल्हाडी चलाते हुए कुछ भी प्रलाप करें। (निर्दोष के ऊपर आक्षेप करना अपने गले पर कुल्हाडी चलाने जैसा ही है। क्यों कि अपने गले पर कुल्हाडी चलाने से जैसे अपनी ही मृत्यु होती है, वैसे ही निर्दोष की निन्दा करने से लोग स्वयं ही निन्दित होते हैं।) किन्तु हे वीतराग ! बुद्धिमानों का आपके ऊपर केवल पक्षपात से ही अनुराग नहीं है, (किन्तु आपके विशिष्ट गुणो के कारण ही आपके ऊपर अनुराग है। इसलिये आपके अनुरागियों पर दूसरों का आरोप अकारण है।) ।२६।

हे नाथ ! जो परीक्षक अपने को मध्यस्थ बताकर मणि और काच में समानता की बात करते हैं। वे वास्तव में ईर्ष्यालु के लक्षण को ही प्रकट करते है। यह निश्चित है। (ईर्ष्याद्वेष के बिना कोई भी मध्यस्थ परीक्षकव्यक्ति मणि और काच को समान नहीं बता सकता। इसी प्रकार आप जैसे गुणी वीतराग को अन्य राग-आदि से युक्त देवो के समान कहने वाले ईर्ष्यालु ही हैं। क्यों कि सराग और वीतराग, मणि और काच के जैसे कभी भी समान नहीं हो सकते।) ॥ २७ ॥

मैं प्रतिपक्ष परतीर्थिकों के मित्रों तथा समर्थकों के सामने खूब गम्भीरता से यह घोषणा करता हूँ कि, वीतराग से बढकर दूसरे कोई देव नही हैं, (क्यों कि दूसरे देव वीतराग नही है।) तथा स्याद्वाद के सिवाय दूसरे कोई भी दर्शन प्रामाणिक नहीं हैं।

(क्यों कि दूसरे दर्शन सर्वनमूलक नहीं है, इसलिये पदार्थ के एक अंश को ही जानने वाले हैं।) ॥ २८ ॥

हे वीर ! श्रद्धा के कारण ही आपके विषय में हमारा अनुराग नहीं है, तथा केवल द्वेष से ही दूसरे देवों के विषय में हमारी अरुचि नहीं है। किन्तु साधक तथा बाधक प्रमाणों से निश्चि पूर्वक आप्तत्व की परीक्षा कर के ही हमलोग आप जैसे स्वामी का ही आश्रित हुए हैं। (परीक्षा करने से दूसरे देव आप्त सिद्ध नहीं होते। जो आप्त नहीं है, उनका आश्रय विवेकी जन कैसे कर सकते हैं ?) ॥ २९ ॥

हे जगदीश ! जो तमोगुणी (अज्ञानियों) के अगोचर (परोक्ष) ऐसे आपके स्वरूप को सरलता से प्रकट करती है, ऐसी, चन्द्र के किरणों के समान निर्मल और सांसारिकतापों के हरण करने के कारण शीतल, निर्दोष एवं प्रामाणिक आपकी वाणी का ही हमलोग पूजन करते हैं, (आदर करते हैं, या प्रणाम करते हैं। दूसरे देवों की वाणी ऐसी नहीं है, इसलिये विवेकी लोग उसका आदर नहीं कर सकते।) ॥ ३० ॥

हे भगवन् ! जिस किसी भी समय में जिस किसी भी रूपसे जिस किसी भी नाम से जो कोई भी हों, यदि वह वीतराग हैं तो आप ही हो। आपको मेरा नमस्कार हो। (गुण की पूजा होती है, काल नाम या रूप की नहीं, इसलिये व्यक्तिविशेष

पर नहीं किन्तु वीतरागता आदि गुणों पर हीं मेरा अनुराग है।) ॥ ३१ ॥

हे जिनवर ! आपके आप्तता का समर्थन रूप इस स्तुति को-कोई श्रद्धा का हीं उद्गार समझें, या स्वभाव से हीं परनिन्दक जडबुद्धि लोग परनिन्दारूप समझें। (क्यों कि जिसकी जैसी प्रकृति तथा बुद्धि होती है, वह उसके अनुसार हीं किसी बात को समझता है।) किन्तु जो मध्यस्थ एवं विवेकी हैं, और परीक्षा करके किसी भी वस्तु के सार को ग्रहण करने में समर्थ हैं, उनके लिय तो स्तुति के नाम से कही गयी धर्ममय ये बातें तत्त्व का प्रदर्शक हीं हैं। (इस स्तुति के पाठ से धर्म तथा तत्वज्ञान दोनों हीं होते हैं, यह-केवल श्रद्धा या परनिन्दा के उद्देश्य से कही गई बातें नहीं है, किन्तु इसका उद्देश्य धर्म और तत्त्वज्ञान हीं है। इस विषय में दूसरे प्रकार का अभिप्राय प्रकट करना खेद की हीं बात होगी।) ॥ ३२ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिताऽयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिकास्तुतेः श्रीतपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रभृत्यनेक-तीर्थोद्धारकबालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारसमय-ज्ञशान्तमूर्त्याचार्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरपट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृत-विद्विशारदाऽऽचार्यवर्यश्रीकस्तूरसूरीश्वरशिष्यश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविर-चितः कीर्तिकलाख्यो हिन्दीभाषानुवादः समाप्तः ॥

अर्हम्

॥ श्रीविजयनेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्योनमः ॥

॥ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तुतिः ॥

॥ कीर्तिकलाख्यो हिन्दीभाषानुवादः ॥

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य महाराज जिनेश्वर ही आप्त हैं, इस अभिप्राय से तीर्थङ्कर महावीर भगवान की स्तुति का प्रारम्भ करते हैं—

जो केवलज्ञान नाम के अनन्तज्ञान से युक्त, वीतराग, तथा जिनका स्याद्वाद नाम का सिद्धान्त तीनों काल में सत्य है, और जो देवों के भी पूजनीय हैं, सबसे आप्तों में मुख्य और स्वयं सिद्धान्तवाले श्री वर्धमान जिन की स्तुति का मैं यत्न करता हूँ। (जो ज्ञानी हैं, वही निर्दोष भी हो सकते हैं, उनका ही सिद्धान्त तीनों काल में सत्य हो सकता है। किन्तु अल्पमति तथा रागद्वेष से युक्त व्यक्तियों का नहीं। इसलिये देव भी उन्हीं की पूजा करते हैं। और उनको ही आप्तों में मुख्य कहा जा सकता है। पर स्वयं विज्ञान वाले ही उत्तमगुणों से युक्त हो सकते हैं, जिससे वैसा

ज्ञान नहीं हो सकता, न उक्त गुण ही प्राप्त हो सकते हैं। इसलिये उस परमात्मा की ही स्तुति के लिये यत्न करना इष्ट है।) ॥ १ ॥

हे नाथ! मैं आपके दूसरे गुणों की स्तुति के लिये भी बहुत उत्सुक हूँ। परन्तु पदार्थ की परीक्षा में सविशेष प्रवृत्ति होने के कारण, आपके यथार्थरूप से वस्तुओं के प्रतिपादन करनेवाले सिद्धान्तरूप गुण ही मेरी स्तुति का लक्ष्य है। (आपके गुणों की स्तुति तो इच्छा रहने पर भी अशक्य है। क्यों कि उसके लिये अपेक्षित बुद्धि प्रतिभा आदि सामग्री पर्याप्त नहीं हैं। ऐसी स्थिति में अपनी शक्ति के आनुसार मैं अपने प्रिय विषय में ही उद्योग करता हूँ। इस प्रकार के उद्योग में आंशिक भी सफलता मिलती ही है।) ॥ २ ॥

हे जिनेश्वर! गुणों में दोष का आरोप करने की धारणा वाले ये अन्य तीर्थिक लोग आप को स्वामी नहीं मानें। (इसके लिये कुछ कहना नहीं है। क्यों कि उक्तधारणा को छोड़े विना गुणवान को कोई कैसे स्वामी मान सकता है?। जो गुणों को समझता है, वही गुणी को स्वामी मानता है।) फिरभी जरा आंखें मूंदकर स्थिर चित्त से सच्ची युक्तयों का या सच्चे सिद्धान्त मार्गों का तो विचार अवश्य ही करें। (विना विचारे दोष का आरोप करनेवाले गुण से वञ्चित ही रहते हैं। यदि वे लोग स्थिर चित्त से विचार करे तो उनको अपनी धारण बदलनी होगी, और तब

आपको अवश्य ही स्वामी मानेंगे । जो विचार नहीं करते, वही आपको स्वामी नहीं मानते । इससे आपका कुछ बनता बिगड़ता नहीं, किन्तु वे ही लोग सत्य से वञ्चित रहते हैं । इसलिये इस प्रकार का विचार उनके ही हित में है ।) ॥ ३ ॥

घट आदि पदार्थ स्वयं ही, अनुवृत्ति = घट घट इत्यादि प्रकार के समान ज्ञान तथा व्यावृत्ति = घट पट से भिन्न है इस प्रकार का भेदप्रकाशक विशेष ज्ञान,—इन दोनों ही ज्ञानों का विषय होते हैं। अर्थात् घटादि पदार्थ सामान्य तथा विशेष दोनों स्वभाव के होते हैं। यदि एकान्तरूपसे सामान्य और विशेष भिन्न होते तो सामान्यविशेष पदार्थ से अनभिज्ञ साधारण जन को भी घट को देखते ही किसी की अपेक्षा किये बिना, 'यह घट है पट नहीं' इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता। (वैशेषिकों का कहना है कि—घट आदि पदार्थों में एकप्रकार की समानता है, जैसे एक घट दूसरे घट से समान होता है। इस समानता या सामान्य को घटत्व आदि शब्दों से कहा जाता है। यह घटत्व घट से भिन्न है। क्यों कि घटत्व सब घटों में रहने वाला धर्म है, तथा घट व्यक्ति है। उस घटत्व के कारण ही घट को देखने से 'यह घट है पट नहीं' ऐसा ज्ञान होता है। यद्यपि इस प्रकार से स्थूल पदार्थों में ही विशेष प्रकार से ज्ञान होता है, किन्तु अमूर्त आकाश काल आदि में तथा परमाणुओं में

नहीं। क्यों कि आकाश आदि अखण्डपदार्थ हैं, इसलिये वहां कोई असाधारण सामान्य नहीं है, सामान्य अनेक व्यक्तियों में रहने वाला धर्म है। तथा एक घटको दूसरे घट से पृथक् रूप से जानने का साधन है–दोनों घटों के अवयवों का भिन्न होना। परमाणु निरवयव होते हैं। इसलिये उन द्रव्यों में एक विशेषनामका पदार्थ मानते हैं, जिसके बल से एक परमाणु का दूसरे परमाणु से आकाश आदि का काल आदि से भिन्न रूप में योगियों को ज्ञान होता है। इसलिये सामान्य और विशेष दोनों भिन्न पदार्थ हैं। उसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि) कोईभी पदार्थ अपने से एकान्तभिन्न पदार्थ की अपेक्षा से जाने नहीं जाते। इसलिये जो वस्तुतः एक आश्रय होने के कारण कथञ्चित् अभिन्न हैं, उनको एकान्त भिन्न मानकर सामान्य और विशेष इन दोनों को पृथक् पदार्थ कहने वाले पदार्थ तत्त्व के जानने में अपटु हैं; इसलिये युक्तिविरुद्ध कहते है। (यदि सामान्य विशेष एकान्त भिन्न हों तो घट के देखनेपर, पहले घटत्व का ज्ञान होगा, पीछे यह घट है पट नहीं इस प्रकार का ज्ञान होगा। ऐसी स्थिति में क्रम से तथा विलम्ब से ही किसी भी वस्तु का ज्ञान हो सकता है। लेकिन यह कहीं भी किसी को अनुभूत नहीं है। तथा घट से एकान्त भिन्न घटत्व यदि उक्तज्ञान का कारण माना जाय तो पट को भी उक्तज्ञान का कारण क्यों न माना जाय? । घटत्व तथा पट में घट से

भिन्नता तो समान ही है। इसलिये जिनागम के अनुसार घट को ही सामान्य तथा विशेष रूप मानना चाहिये। सामान्य और विशेष दोनों विरुद्ध धर्म एक घट में नहीं रह सकते, ऐसा कहना भी संगत नहीं। क्योंकि घट के देखने से सामान्य और विशेष दोनों की प्रतीति होती है, इसलिये दोनों में विरोध नहीं माना जासकता।) ॥ ४ ॥

(सामान्य नित्य है, विशेष अनित्य है, इसलिये विरोध होने के कारण एक ही पदार्थ उभय स्वभाव का नहीं हो सकता— ऐसा कहना असङ्गत है। क्योंकि) दीप से लेकर आकाश तक सब पदार्थ समान स्वभाव वाले हैं। दीप एकान्त अनित्य नहीं है, दीपके अणुओं के प्रकाशगुण का नाश होता है, तथा अन्धकाररूप गुण उत्पन्न होता है, किन्तु दीपके अणु नष्ट नहीं होते, इसलिये पर्याय की अपेक्षा से कोई भी पदार्थ अनित्य कहाजाता है, तथा द्रव्य की अपेक्षा से वही पदार्थ नित्य भी है। आकाश भी द्रव्य की अपेक्षा से ही नित्य है, अवगाह रूप पर्याय तो उत्पन्न और नष्ट होते ही रहते हैं, इसलिये पर्याय की अपेक्षा से आकाश भी अनित्य है, इस प्रकार पदार्थमात्र नित्य और अनित्य होने के कारण सम स्वभाव हैं। (उत्पादव्यय ध्रौव्य स्वभाव हैं।) इसलिये पदार्थ स्याद्वाद के लक्षण से युक्त हैं। (स्याद्वाद से युक्त होकर ही कोई भी पद किसी भी पदार्थ का प्रतिपादन करता है। ऐसे उपरोक्त युक्ति के अनुसार किसी भी

पदार्थ को स्यान्नित्य हीं कह सकते हैं, 'नित्य ही है' ऐसा नहीं कह सकते)। हे जिनेन्द्र! उक्तयुक्ति से पदार्थों का समस्वभाव प्रमाणित होने के कारण, आपके अनेकान्तवाद के विरोधियों का-आकाशादि नित्य हीं हैं, दीप आदि अनित्य ही हैं, इस प्रकार का प्रतिपादन प्रलाप (अनर्थक या युक्ति रहित) हीं है ॥ ५ ॥

"यह पञ्च महाभूत प्रपञ्च सावयव होनेके कारण कार्य है, (क्यों कि नित्य आकाशादि पदार्थ निरवयव हैं।) कार्य कर्त्ता के विना नहीं हो सकता, इसलिये जगत्कर्त्ता ईश्वर है। वह एक हीं है। (क्यों कि एककार्य के अनेक कर्त्ता मानने से कार्य में एकरूपता तथा नियमितता नहीं रह सकती।) तथा वह व्यापक और सर्वज्ञ है, (इसलिये वह सर्व देश काल में सब कार्य कर सकता है।) वह स्वतन्त्र है। (इसलिये किसी की इच्छा के आभाव में कार्य के रुकने की सम्भावना नहीं है।) तथा वह नित्य है। (अन्यथा उसका जो जनक होगा, उसका भी कोई जनक होगा, इस प्रकार अनवस्था हो जायगी।) हे जिनेन्द्र! कदाग्रह से किये जाने वाले ये सब कुतर्क उनके हैं, जिनका उपदेशक आप नहीं। (आपके उपदेश (सिद्धान्त) को जानने वाले ऐसे कुतर्क नहीं कर सकते। क्यों कि परमाणु आकाश जीव आदि पदार्थों को सभी नित्य मानते हैं। शरीर आदि कार्य का कारण कर्म हीं है। ऐसी स्थिति में ईश्वर को कर्त्ता मानने की कोई

आवश्यकता नहीं । ईश्वर के अप्रमाणित होने से दूसरी बातें स्वय ही निर्मूल हो जाती है । इसलिये जगत भी नित्या नित्य है, एकान्त अनित्य या एकान्त नित्य नहीं, यह सिद्ध हो जाता है ।) ॥ ६ ॥

यदि सामान्य विशेष को एकान्त भिन्न माना जाय, तो घट धर्मी है, घटत्व धर्म है, इस प्रकार का धर्मधर्मिभाव नहीं हो सकता । (अन्यथा घट पट म भी धर्मधर्मिभाव की आपत्ति होगी ।) घटादि के देखने पर घट तथा घटत्व इन दो हीं भावों का भान होता है, समवाय आदि सम्बन्ध का भान नहीं होता । इसलिये घट घटत्वादि में समवायादि सम्बन्ध के कारण धर्मधर्मिभाव है, एसा नहीं कहा जा सकता । क्यों कि दोनों में सम्बन्ध हीं नहीं है, अन्यथा उसका भी भान होता । ('घट में घटत्व है' इस प्रकार के व्यवहार के बल से दोनों में सम्बन्ध की सिद्धि होती है, ऐसा भी नहीं कह सकते । क्यों कि इस प्रकार का व्यवहार सम वायादि सम्बन्ध में भी है, जैसे 'घट में समवाय है' ऐसा व्यवहार होता है । इसलिये घट और समवाय में भी सम्बन्ध मानना पडेगा । ऐसी स्थिति म अनवस्था हो जायगी ।) घट और सम वाय का सम्बन्ध स्वरूपात्मक होनेके कारण गौण है, इसलिये उसका सम्बन्धशब्द से व्यवहार नहीं होता है-ऐसा कहना भी उचित नहीं । क्यो कि सम्बन्ध के विषय में गौणमुख्य का भेद नहीं माना

गया है। जैसे ब्रह्मण का पुत्र गौणब्राह्मण नहीं होता, वैसे हीं सम्बन्ध का भी सम्बन्ध गौण नहीं माना जा सकता। तथा समवायादि-सम्बन्धों से अनभिज्ञ साधारण जनों को सम्बन्ध के विना हीं धर्म-धर्मी आदि की प्रतीति होती है। इसलिये दूसरे को भी धर्मधर्मी की प्रतीति के लिये सम्बन्ध अनावश्यक है। (इसलिये धर्म-धर्मी व्यवहार के लिये सामान्य विशेष में कथञ्चित् भेदा-भेद मानना हीं युक्तिसगत है। एकाश्रय होने से कथञ्चित् अभेद, तथा सामान्य विशेष इस प्रकार पृथक् व्यवहार होने के कारण कथञ्चित् भेद अनुभव सिद्ध है। इसलिये पदार्थमात्र सामान्यविशेष नित्यानित्यादि-स्वरूप हैं, यह सिद्धान्त है।) ॥ ७॥

हे जिनेन्द्र! आप के विरोधियों ने—सत्पदार्थ में भी क्वचित् हीं सत्ता है, आत्मा का चैतन्य शरीररूप उपाधिजनित तथा भिन्न है, मुक्ति ज्ञानमय और आनन्दमय नहीं है। (क्यों कि आत्मा व्यापक है। यदि चैतन्य को शरीर रूप उपाधिकृत नही माना जाय, तो घट आदि में भी आत्मा का सम्बन्ध होने के कारण चैतन्य मानना पड़ेगा। इसलिए चैतन्य औपाधिक ही है, तथा आत्मा से भिन्न है। मुक्त अवस्था में शरीर आदि उपाधि नहीं रहती है। इसलिये कारण के अभाव होने से कार्यरूप चैतन्य का भी अभाव हो जाता है, इसलिये आनन्द भी नहीं है। क्यों कि चैतन्य के विना आनन्द का अनुभव नही हो सकता। अतः मुक्त अवस्था में आनन्द

की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं ।) यह सब सूत्र बहुत उत्तम बनाये हैं। (यह उपहास वाक्य है, इसलिये 'उक्तकथन अत्यन्त अप्रमाण है' ऐसा तात्पर्य है । नैयायिक लोग द्रव्य गुण कर्म सामन्य विशेष समवाय ये छौ भाव, तथा सातमा अभाव पदाथ मानते हैं। उस में आदि के तीनों पदर्थों में रहनेवाला सत्ता नाम का महासामान्य मानते है । सत्ता को शेष पदार्थों में नहीं मानते । यह अयुक्त है। क्यों कि सत् का भाव हीं सत्ता है । वह यदि सत्पदाथ मे नहीं रहे तो उसको सत्ता हीं नहीं कह सकते । जो पदार्थ जहाँ नही रहे, उसको उसका भाव नहीं कहा जा सकता । इसलिये सत् पदार्थों मे अमुक में सत्ता है, अमुक में नहीं, ऐसा कहना युक्ति-विरुद्ध है। ॥ ८ ॥

(आत्मा को व्यापक मानने से ही चैतन्य को औपाधिक मानना पड़ता है, तथा मुक्तजीव को ज्ञान और आनन्द रहित मानना पड़ता है । किन्तु आत्मा व्यापक नहीं है । क्यों कि) जिस पदाथ का कार्य जिस देश में देखाजाता है, उस की स्थिति उस देश में हीं मानी जाती है । जैसे घडा जलसग्रहरूप कार्य घर में करता हो तो घडा बाहर में नहीं रहता । इस विषय में सभी एक मत हैं। (क्यों कि कार्य के बिना भी यदि वस्तु की सत्ता का स्वीकार किया जाय, तो आकाश कुसुम की सत्ता क्यों न मानी जाय ? । आत्मा का चैतन्य आदि कार्य शरीर में हीं उपलब्ध है, इसलिये आत्मा शरीर

मात्र में हीं रहने वाली है, अन्यत्र नहीं । यह युक्तिसिद्ध बात है ।) फिरभी अयथार्थ ऐसे एकान्तवाद का स्वीकार करने के कारण नष्टबुद्धिवाले अन्यतीर्थिक लोग आत्मा को देह से बाहर भी रहने वाली (व्यापक) कहते हैं । युक्ति के अभाव के कारण आत्मा व्यापक नहीं । इसलिये चैतन्य को औपाधिक मानना भी आवश्यक नहीं है । किन्तु चैतन्य आत्मा का स्वभाव है । इसलिये मुक्ति ज्ञानमय तथा आनन्दमय है । आत्मा के व्यापक सिद्ध नहीं होने से, व्यापकत्वमूलक सभी बातें मूल के अभाव में शाखा के जैसे हीं अपने आप असत् होजाती हैं ।) ॥ ९ ॥

हे जिनेश्वर ! लोग स्वयं हीं वितण्डा (अपने पक्ष की चिन्ता किये विना हीं परपक्ष के खण्डन करने) में पण्डित होने के कारण बोलने को सदा उत्सुक तथा विवाद में अभिरुचि वाले होते हैं । फिरभी प्रतिवादी के पक्ष का खण्डन करने के लिये वैसे लोगो को माया (छल, जाति आदि निग्रह स्थानों) का उपदेश देने से, ऐसा लगता है कि अन्यतीर्थिकों के मुनि (गुरु) विरक्त हो गये हैं=प्रतिवादी के पक्ष को सत् तर्कों से खण्डन करने में असमर्थ होने के कारण चिढ़ गये हैं । अन्यथा अपने अनुयायियों को 'छल आदि के द्वारा परपक्ष का खण्डन कैसे कियाजाय' इस प्रकार का उपदेश क्यों देते ? ।) अथवा छल आदि का उपदेश करने वाले ये मुनि अद्भुत (दूसरे विरक्तों की अपेक्षा से नवीन) विरक्त=निस्पृह है । या (जो निस्पृह है,

वह दूसरे को छल करना कैसे सिखा सकता है?) इसलिये छल का उपदेश करने वाला विरक्त है, यह आश्चर्य है। (गौतम मुनि ने छल आदि का प्रतिपादन किया है, इसके लिये यह कटाक्ष किया गया है।) ॥ १० ॥

हे जिनेश्वर! जो लोग यज्ञ में की गयी हिंसा को वेदादि-शास्त्रविहित होने के कारण धर्म का हेतु मानते हैं, वह युक्त नहीं। (क्योंकि वेद में सामान्य रूप से हिंसामात्र का निषेध करनेवाला वाक्य विद्यमान है। यदि ऐसा कहा जाय कि सामान्य का विशेषविधि अपवाद होता है। इसलिये सामान्य रूप से हिंसा को पापहेतु बताने वाले वेद के हिंसानिषेध वाक्य का यज्ञ में हिंसा का विधानकरनेवाला वेदवाक्य अपवाद है, इस लिये यज्ञ में की गयी हिंसा धर्म का हेतु है, तो यह बात युक्तिसंगत नहीं। क्योंकि) अन्य विषय के सामान्य वाक्य का अन्य विषय का विशेष वाक्य अपवाद नहीं हो सकता। (एक विषय में ही सामान्य और विशेष वाक्य हों, तो सामान्य का विशेष अपवाद होता है। यहां तो हिंसा पाप का हेतु है, इस विषय में हिंसा का निषेधक सामान्य वाक्य है। तथा यज्ञ में हिंसा को धर्महेतु बताने के लिये विशेष वाक्य है। इसलिये उन दोनों वाक्यों में समान्यविशेषभाव नहीं माना जा सकता।) इसलिये अन्यतीर्थिकों (जैमिनि के अनुयायियों) का यह (यज्ञ में हिंसा धर्म का हेतु है) विचार

अपने पुत्र को मारकर राज्यप्राप्ति की इच्छा के समान है। (जैसे पुत्र के वध से राज्य मिलने पर भी पुत्रमरण का शोक होता हीं है, वैसे हीं यज्ञ में की गयी हिंसा से काम्य फल के मिलने पर भी हिंसा का दोष लगता हीं है। जो पशु पुत्र के जैसे पालनीय हैं, उनका अपनी कामना की सिद्धि के लिये वध करना पुत्र का वध करना ही है। इसलिये हिंसा सर्वथा त्याज्य है, वह धर्म का हेतु नहीं हो सकता।) ॥ ११ ॥

हे जिनेन्द्र! ज्ञान (दीप के समान) स्व तथा पर पदार्थ को प्रकाशित करते हुए हीं प्रकाशित होता है। प्रकाशक को स्व-प्रकाश के लिये किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा नहीं रहती। (प्रकाशक प्रकाश रूप से स्वयं हीं प्रकाशित होता है। द्वीप को जानने के लिये दूसरे दीप की आवश्यकता नहीं होती)। यदि पदार्थ का प्रकाशक ज्ञान को, तथा उस ज्ञान का प्रकाशक किसी दूसरे ज्ञान को माना जाय, तो पदार्थ का प्रकाश असम्भव हो जायगा। (क्योंकि एक ज्ञान के प्रकाश के लिये दूसरे ज्ञान की, उसके प्रकाश के लिये तीसरे ज्ञान की, इस प्रकार परम्परा बढ़ती हीं जायगी, इस लिये ज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकेगा। तो ज्ञान के प्रकाशित हुए विना अर्थका प्रकाशन कैसे होगा?।) 'फिर भी जैसे तलवार अपने आप को काट नहीं सकता, वैसे हीं ज्ञान स्वको प्रकाशित नहीं कर सकता' इस प्रकार के तर्क उपस्थित करने वाले प्रतिवादी

के डर से अन्यतीर्थिका (गौतम, कणाद, जैमिनि) ने ज्ञान को परप्रकाश्य मान लिया है = स्वप्रकाश नहीं माना है । (वे लोग पदार्थ के तत्त्व को नहीं जानते हैं, इसलिये डरते हैं । ज्ञानी को डर नहीं होता । तथा यहा डरने की कोई बात भी नहीं है । ज्ञान स्व को प्रकाशित नहीं करता, किन्तु वह दीप के जैसे प्रकाश स्वभाव है । इसलिये तल्वार का दृष्टान्त ज्ञान के विषय में सगत नहीं । तथा ज्ञान स्वप्रकाश है यह बात युक्तिसिद्ध होने पर भी उसको स्वप्रकाश नहीं मानने में भय के सिवाय दूसरा क्या कारण हो सकता है ? । इस प्रकार का उपहास भी यहा ध्वनित होता है ।) ॥ १२ ॥

(जो कोई (वेदान्ती लोग) ऐसा मानते हैं कि–' ब्रह्म हीं एक सत् है, जगत् मिथ्या है । रस्सी में सर्प के जैसे ब्रह्म में माया=अविद्या से जगत का प्रतिभास होता है ।' यह बात युक्ति विरुद्ध है । क्यों कि) हे जिनेन्द्र ! माया यदि सत् है, तो माया और ब्रह्म दो तत्त्व हो जाते ह । (इसलिये 'एक ब्रह्म हीं सत् है' ऐसा कथन असिद्ध हो जाता है ।) यदि माया को असत् माना जाय, तो जगत का प्रतिभास नहीं हो सकता । (जो स्वय असत् है वह दूसरे का प्रतिभासक नहीं हो सकता । कोई भी कार्य सत् से हीं होता है, असत् दीप घट आदि पदार्थ का प्रकाशन नहीं करता ।) यदि माया को जगत् का प्रतिभासक माना

जाय, तो उसको सत् मानना हीं पडेगा। माता को वन्ध्या नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार असत् माया को जगत् का प्रतिभासक नही माना जा सकता। जैसे वन्ध्या को माता नहीं कहा जा सकता। कार्य हीं सत् का लक्षण है। यदि माया कार्य करती है, तो वह अवश्य हीं सत् है। यदि माया असत् हैं, तो वह कार्य नही करेगी। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत का अपलाप नही हो सकता। इसलिये 'ब्रह्म हीं एक सत् है' यह सिद्धान्त युक्ति विरुद्ध है ॥ १२ ॥

(सामान्य एक है, विशेष अनेक हैं। इसलिये पदार्थ सामान्यविशेषात्मक नहीं हो सकते। इस प्रकार का तर्क युक्ति संगत नहीं। क्यों कि-) घटादि पदार्थ सामान्य रूप से (सङ्ग्रह-नय के अभिप्राय से) एक=कथञ्चित् अभिन्न ही हैं, तथा विशेष रूप से (व्यवहार नय के अभिप्राय से) कथञ्चित् भिन्न हीं है। पदार्थों में व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्तिभेद की प्रतीति होती है। सामान्यदृष्टि से पदार्थों में भेद की प्रतीति नहीं होती है। जो एक घट का सामान्य है, वही दूसरे घट का भी सामान्य है। अन्यथा एक घट के देखने के बाद दूसरे घट के देखने पर अपने आप 'यह घट है' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता। हॉ; व्यक्ति की अपेक्षा से सामान्य को भी कथञ्चित् अनेक मानते हैं। इस प्रकार सामान्य और विशेष दोनो ही अपेक्षाभेद से एक और अनेक हैं। ऐसी स्थिति में

पदार्थ को सामान्यविशेषात्मक होने में कोई बाधा नहीं है।) इस प्रकार वाचक शब्द भी सामान्यविशेषात्मक है। हे जिनेन्द्र! इस प्रकार वाचक शब्दों तथा वाच्य पदार्थों के उपर्युक्ति बल से सामान्य विशेष रूप सिद्ध होने पर भी, वाचक तथा वाच्यों में किसी को सामान्य ही तथा किसी को विशेष रूप ही प्रतिपादन करना परतीर्थिकों की युक्ति के अन्वेषण की शिथिलता को ही सूचित करता है। (परतीर्थिक लोग युक्ति की कल्पना में निपुण नहीं हैं, इसलिये पदार्थ के सूक्ष्मतत्त्व को प्राप्त करने में सफल नहीं होते।) ॥ १४ ॥

हे जिनेन्द्र! कोई जड़ परतीर्थिक (साङ्ख्यानुयायी) कितने ही विरुद्ध विषयों का प्रतिपादन करते हैं। जैसे—चैतन्य पुरुष का गुण है, किन्तु वह पदार्थ का परिच्छेदक नहीं। (क्योंकि उसको पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।) बुद्धि प्रकृति का विकार है, इसलिये जड़ है। (क्योंकि प्रकृति जड़ है तो उसका परिणाम चेतन कैसे होगा?) किन्तु बुद्धि उभयमुख दर्पण के समान निर्मल है, उसमें एक तरफ से चैतन्य का दूसरी तरफ से पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है, इसलिये बुद्धि चेतन जैसा प्रतिभासित होती है, अर्थात् पदार्थ का बुद्धि द्वारा भान होता है। प्रकृति से बुद्धि, उस से अहङ्कार, उससे पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, तथा शब्द आदि पञ्चतन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। आकाश आदि

पञ्च महाभूत शब्द आदि पञ्चतन्मात्रा से उत्पन्न हुए हैं। पुरुष चेतन है, किन्तु निर्लेप है, क्योंकि बुद्धि को हीं पदार्थ के साथ सम्बध है। पुरुष को 'यह बुद्धि का सुख दुःख आदि धर्म है, मेरा नहीं' इस प्रकार का विवेक नहीं होना हीं उसका बन्ध है, तथा उस विवेक का होना हीं मोक्ष हैं।) वस्तुतः पुरुष का बन्ध मोक्ष नहीं होता है। (प्रकृति हीं नाना पुरुष से सम्बद्ध होनेपर बन्ध को प्राप्त होती है, तथा उस सम्बन्ध को छोडने पर मुक्त होती है। पुरुष में बन्ध मोक्ष का व्यवहार कल्पित हीं है।) यह सब विरुद्ध इस प्रकार है–जैसे=चैतन्य का अर्थ है विषय का ग्रहण करना। यदि वह विषयों का ग्रहण नहीं करता है, तो उसको चैतन्य हीं नहीं कहसकते। इसलिये चैतन्य है, किन्तु विषय का ग्रहण नहीं करता हैं, यह विरुद्ध है। बुद्धि चैतन्य का पर्यायवाचक शब्द है। इसलिये उसको जड़ कहना विरुद्ध है। आकाश आदि नित्य हैं, इस विषय में सब एकमत हैं। इसलिये आकाश आदि की उत्पत्ति का प्रतिपादन करना विरुद्ध है। प्रकृति से भेद का ग्रह नहीं होना हीं बन्ध है, तो वह पुरुष को नहीं होगा, तो जड़ प्रकृति को कैसे होगा?। यदि बन्ध पुरुष का है, तो मोक्ष भी उसका हीं होगा। इसलिये पुरुष का बन्धमोक्ष नही है, यह विरुद्ध है। विरुद्ध प्रतिपादन करना जड़ता (अल्पबुद्धि) का लक्षण है।) ॥ १५ ॥

हे जिनेन्द्र ! बौद्ध लोग प्रतिपादन करते हैं कि–बाह्य पदार्थ नही है । यदि बाह्य पदार्थों का स्वीकार किया जाय, तो जड होनेके कारण उनका प्रतिभास ही नहीं होगा । इसलिये घट आदि आकार से प्रतिभासमान सब पदार्थ ज्ञान ही हैं । परन्तु यदि ज्ञानाद्वैत माना जाय, तथा ज्ञान को क्षणिक माना जाय तो कार्य कारण भाव की व्यवस्था नही रहेगी । क्यों कि – (एक काल में उत्पन्न होने वाले पदार्थों में कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता । पूर्व काल में रहने वाला कारण कहा जाता है, तथा उत्तर काल में होने वाला कार्य कहा जाता है ।) पूर्वापरकाल में उत्पन्न होने वाले पदार्थों मे भी क्षणिक ज्ञानाद्वैत मानने से कार्यकारणभाव नही हो सकता, क्यों कि कारण क्षणिक होने के कारण पूर्वकाल में ही नष्ट होगया, तो उत्तर काल में कार्य कहॉ होगा ?, कारण ही नही है । तथा ज्ञानाद्वैत मानने मे पदार्थ का ज्ञान कैसे होगा ?, क्यों कि पदार्थ ही नही हैं । एसी स्थिति में ज्ञान में ज्ञान हीं भासित होगा, पदाथ नहीं । इसलिये बौद्धों का क्षणिकज्ञानवाद इन्द्रजालके जैसा निःसार है । ॥ १६ ॥

हेजिनेन्द्र ! आप के गुणो में दोष का आरोप करने वाले बौद्धों का शून्यवाद विलक्षण है ! । (युक्तिरहित होने के कारण उपहासास्पद है ।) क्यों कि जैसे परवादी प्रमाण के बिना अपने पक्ष को सिद्ध नहीं कर सकते, वैसे शून्यवादी भी प्रमाण के बिना

शून्यवाद का समर्थन नहीं कर सकते। यदि शून्यवादी प्रमाण का उपन्यास करेंगे तो सर्व शून्यवाद सिद्धान्त ही विरुद्ध हो जायगा। (क्यो कि प्रमाण हीं सत् पदार्थ हो जायगा। इसलिये सर्वशून्य-वाद का अपने आप खण्डन हो जायगा। असत्प्रमाण से तो किसी भी सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया जासकता। इसलिये शून्यवाद प्रमाण की विचारणा के विना हीं प्रवृत्त होने के कारण उपहासास्पद है।) ॥ १७ ॥

हे जिनेन्द्र! आप के प्रतिपक्षी बौद्ध कृतप्रणाश, अकृतकर्म-भोग, भवभङ्ग, मोक्षभङ्ग, स्मृतिभङ्ग आदि दोषों की उपेक्षा करके 'सर्व क्षणिक है' ऐसा प्रतिपादन करते हुए महा साहसी (अत्यन्त अविचारित प्रवृत्ति करने वाले) हैं। यह आश्चर्य जनक है। (कोई भी विद्वान् अपने पक्ष में सम्भवित दोषों की उपेक्षा नहीं करता। किन्तु क्षणिकवादी हीं ऐसे हैं, इसलिये नवीन होने के कारण यह वात आश्चर्यजनक है।) क्षणिकत्व वाद में कृतप्रणाशादि दोषों का प्रतिपादन—यदि सब पदार्थों को क्षणिक माना जाय, तो कर्म भी क्षणिक हीं होगा। ऐसी स्थिति में किये हुए कर्मों का फल दिये विना हीं तत्काल ही नाश हो जायगा, इसलिये कृत का-फल दिये विना हीं नाश रूप कृतप्रणाश दोष होता है। तथा कर्म का नाश हो जाने से होरहा भोग किये हुए कर्मों का नहीं कहा जा सकता, इसलिये अकृतकर्मभोग दोप होता है! कर्म के नाश

होजाने से भव=परलोक का भङ्ग होजायगा। क्यों कि कृतकर्म का फल हीं भव है। यदि अकृतकर्म का फलभोग माना जाय तो मोक्ष का भङ्ग हो जायगा। अकृतकर्म का फलभोग हेतु के विना होगा, इसलिये उसका निवारण नहीं हो सकता। तथा आत्मा ज्ञान आदि सब क्षणिक होने के कारण कोई भी बद्ध नहीं रहेगा, तो मोक्ष किस का होगा? । तथा आत्मा के क्षणिक होने के कारण अनुभव करनेवाला तत्काल हीं नष्ट हो जायगा, तो स्मरण किस को होगा? । क्यों कि जिसको अनुभव होता है उसको ही स्मरण भी होता है। इसलिये क्षणिकत्वपक्ष में स्मृतिभङ्गदोष भी होता है।) ॥ १८ ॥

(बौद्ध लोग कृतप्रणाशादिदोषों का उद्धार करते हुए कहते हैं कि—" पदार्थ मात्र क्षणिक है। किन्तु प्रत्येक पदार्थ की क्षणपरम्परा होती है, जिसको क्षणसन्तान कहते हैं। जैसे—घट प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट होजाता है, उसके समान ही दूसरा घटक्षण होता है, किन्तु यह क्षण अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिये उसकी उत्पत्ति या विनाश का प्रत्यक्ष नहीं होता है; ' तथा पदार्थ स्थायी है 'ऐसी प्रतीति होती है। चूंकि घट की वासना उन क्षणों मे रहती है, इसलिये घटक्षणसन्तान में एकत्व (अभेद) का आभास होता है, या उस घटक्षणसन्तान को एक मानते हैं। ऐसी स्थिति में कर्मक्षण का सन्तान भी एक है, तथा कर्मफलभोग से उस सन्तान का सर्वथा

नाश होजाता है, जिससे दूसरे सदृश क्षण उत्पन्न नहीं होते। इसलिये कृतकर्म का फलदिये विना ही नाश नहीं सिद्ध होता। इस प्रकार कृतप्रणाश दोष के उद्धार से उक्तदोषमूलक भवभङ्गदोष अपने आप ही हट जाता है। तथा कृतप्रणाशदोष नहीं रहने से अकृतकर्मभोग भी नहीं कहा जा सकता। तथा तन्मूलक मोक्षभङ्ग दोष का भी उद्धार होजाता है। स्मृतिभङ्गदोष भी नहीं है। क्यों कि आत्मक्षणसन्तान एक है, तथा पूर्वपूर्व अनुभवों की वासना उस क्षणसन्तान में रहती है। इसलिये स्मरण होता है। तथा जिस क्षणसन्तान को अनुभव हुआ है, उसको हीं स्मरण भी होगा"। किन्तु यह समाधान युक्तियुक्त नहीं। क्यों कि—वासना तथा क्षणसन्तान में यदि अभेद माना जाय तो—वासना या क्षण सन्तान—दोनों में से कोई एक ही रहा। अभिन्न वस्तु में द्वित्व-सङ्ख्या नहीं रह सकती। यदि दोनों में भेद माना जाय तो वासना भी क्षणिक होगी, उसके क्षणसन्तान में भी अभेद के लिये वासनान्तर की कल्पना करनी पड़ेगी। इसप्रकार अनवस्था हो जायगी। यदि भेद या अभेद दोनों में से कोई एक भी पक्ष नहीं मानाजाय, तो बैद्धों के मत में कोई तीसरा पक्ष है नहीं। इसलिये क्षणसन्तान तथा वासना दोनों ही अवस्तु हो जायंगे। इसलिये—) भेद, अभेद तथा अनुभय (दोनों में से एक भी नहीं) पक्ष में वासना तथा क्षणसन्तान यह दोनों सिद्ध नहीं होते। हे जिनेन्द्र!

उक्त कारण से बौद्ध लोगों को कथञ्चित् भेदाभेद रूप आपका सिद्धान्त ही मानना पड़ेगा। जैसे बड़े जहाज के स्तम्भपर बैठा पक्षी, जहाज के बीच समुद्र में पहुचने पर, उस स्तम्भ पर से उड़ता है, किन्तु तट तक नहीं पहुच सकने के कारण लौटकर फिर उसी स्तम्भ पर जाकर बैठता है। उसप्रकार हीं अन्यतीर्थिकों को भी आपके सिद्धान्त से दूर जाने पर भी पदार्थ की सिद्धि के लिये कोई दृढतर्क नहीं प्राप्त होता है, इसलिये उनको आपके सिद्धान्त को हीं अन्ततः मान्यता देनी चाहिये। (भेदाभेद पक्ष में वासना द्रव्यात्मक होनेके कारण नित्य हैं, क्षण पर्याय होनेके कारण अनित्य है। तथा द्रव्य की पर्याय के विना तथा पर्याय की द्रव्य के विना उपलब्धि न होने से दोनों में कथञ्चित् अभेद है। तथा द्रव्य और पर्याय रूप से कथञ्चित् भेद है। इस प्रकार पदार्थ को कथञ्चित्सामान्यविशेषनित्यानित्यभेदाभेद आदि अनेकधर्मात्मक माननेसे सर्वदोषों का समाधान हो जाता है ॥ १९ ॥

हे जिनेन्द्र! अनुमान के विना दूसरे के अभिप्राय से अनभिज्ञ ऐसे नास्तिकों को तो (आप के सिद्धान्त के विरुद्ध) बोलने की भी योग्यता नही है। (नास्तिक लोग प्रत्यक्षमात्र को प्रमाण मानते हे, अनुमान को नही। ऐसी स्थिति में वे दूसरों के अभिप्राय को जान नहीं सकते। क्यों कि अभिप्राय मनोवृत्ति है, तथा अरूपी है। इसलिये उसका प्रत्यक्ष हो नहीं सकता। तो

अनुमानप्रमाण को नहीं माननेवाले, दूसरों के अभिप्राय को नहीं जान सकते। तथा दूसरों के अभिप्राय को जाने विना प्रश्नोत्तररूप वाक्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसलिये नास्तिकों को बोलने की भी योग्यता नहीं है।) चेष्टा आदि से दूसरे के अभिप्राय को जाना जा सकता है। किन्तु चेष्टा कहां ?, और प्रत्यक्ष-मात्र कहां ?। (चेष्टा से पराभिप्राय को जानना अनुमान हीं है, प्रत्यक्ष नहीं। इसलिये चेष्टा से पराभिप्राय के ज्ञान का स्वीकार करने पर, प्रत्यक्षमात्र हीं प्रमाण है, इस सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है।) नास्तिकों का प्रमाद अत्यन्त खेद का विषय है। (अनुमान आदि प्रमाणों के-चेष्टा आदि से पराभिप्राय आदि के ज्ञान से-सिद्ध होने पर भी प्रत्यक्ष से अतिरिक्त प्रमाण को न मानने में प्रमाद के सिवाय दूसरा कारण नहीं। और इस प्रकार का प्रमाद तत्त्वज्ञान में दृढविघ्न होने के कारण अत्यन्त खेद का विषय है। उसका त्याग करना हीं चाहिये। तब आप के सिद्धान्त की यथार्थता को वे भी स्वीकार करेंगे हीं) ॥ २० ॥

हे जिनेन्द्र ! प्रतिक्षण में प्रत्येक वस्तु के उत्पाद विनाश तथा स्थिरता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी जो आप के सिद्धान्त की उपेक्षा करता है, वह या तो पागल है, या उसको कोई पिशाच लग गया है। (अन्यथा स्वस्थचित्त वाला प्रत्यक्ष का अपलाप कैसे कर सकता है ?। घट उत्पन्न होता है, तथा नष्ट होता है। किन्तु जिस

द्रव्य से घट बनता है, वह द्रव्य तो रहता ही है। इसलिये द्रव्य ही सामान्य, तथा नित्य है। उत्पाद आदि पर्याय ही विशेष तथा अनित्य है। द्रव्य तथा पर्याय दोनों का एक साथ ही प्रत्यक्ष होता है, इसलिये दोनों कथञ्चित् अभिन्न हैं, तथा द्रव्य और पर्याय रूप से कथञ्चित् भिन्न है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।) ॥ २१ ॥

हे जिनेन्द्र! वस्तु अनन्तधर्मात्मक ही है, अन्यथा वस्तु की सत्ता का उपपादन नहीं हो सकता, इस प्रकारके आप से उपदिष्ट अनुमान आदि प्रमाण भी एकान्तवादीरूप मृगों को भयभीत करने के लिये सिंहनाद के समान है। (सिंहनाद से भयभीत होकर मृग जैसे भाग जाते हैं, वैसे एकान्तवादी भी उक्त प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों का खण्डन न कर सकने के कारण अपने पक्ष के खण्डन के भय से दूर भाग जाते हैं। वाद में भाग नहीं लेते। घट को एकान्त अनित्य मान लेने से प्रथम क्षण में ही उसका नाश मानना होगा, तो घट का प्रत्यक्ष नहीं होगा, इसलिये घटकी सत्ता लुप्त होजायगी। एकान्तनित्य मानने से भी, नित्यपदार्थों के सदा एकरूप होने के कारण उससे जलाहरणादिकार्य नहीं हो सकेगा। अन्यथा कार्यभेद से स्वभावभेद मानना ही पड़ेगा। पदार्थ एक ही स्वभाव से अनेककार्य नहीं कर सकता और प्रत्यक्ष दीखने वाले उत्पाद तथा विनाश का अपलाप होगा। तथा घट को एकान्त सत् मानने से, वह पटरूप में भी सत् होजायगा। तथा

एकान्त असत् मानने से घटरूप में भी असत् होजायगा । इसलिये घटादि पदार्थ को द्रव्यकी अपेक्षा से नित्य, पर्याय की अपेक्षा से अनित्य, स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षा से सत्, परद्रव्य आदिकी अपेक्षा से असत्, इस प्रकार परस्पर सापेक्ष सत्त्व असत्त्व आदि अनन्तधर्मात्मक मानने से हीं घट की सत्ता सिद्ध होती है, अन्यथा नहीं।) ॥ २२ ॥

(घट द्रव्य सत् है, घट उत्पन्न हुआ, घट नष्ट होगया, इस प्रकार एक एक धर्म का उल्लेख करके पदार्थ का प्रतिपादन होता है, अनेकधर्मों का उल्लेख करके नहीं । इसलिये वस्तु अनन्तधर्मात्मक नहीं है, यह कथन असंगत है । क्यों कि–) विवक्षावश सग्रहनय का आश्रयण कर द्रव्य तथा पर्याय में अभेद पक्ष में पदार्थ का पर्यायरहितरूप में (सामान्यरूप में) कथन होता है। जैसे पिण्ड, कपाल, घट इन प्रत्येक अवस्था में 'यह मिट्टी है' इस प्रकार कहा जाता है। तथा पर्याय (व्यावहार)नय की अपेक्षासे पर्यायों के भिन्न होने के कारण घट, कपाल, पिण्ड, इस प्रकार पृथक् पृथक् प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार का प्रतिपादन विकलादेश (काल आदि से पदार्थ को भिन्न मानने के) पक्ष में होता है। तथा सकलादेश (काल आदि से अभेद का आरोप करने के) पक्ष में सप्तभङ्गात्मकवाक्य से अनन्तधर्मात्मक पदार्थ का प्रतिपादन होता है। इस प्रकार आदेशभेद से पदार्थ के प्रति-

पादन करने की रीति को सम्यग्ज्ञानी हीं जान सकते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टिवाले नहीं । हे जिनेन्द्र ! इस प्रकार पदार्थ के यथार्थ रूप में प्रतिपादन करने की रीति आपने हीं बनायी है । (दूसरे लोग पदार्थतत्त्व से अनभिज्ञ होनेके कारण हीं एकान्तवाद का प्रतिपादन करते ह । काल आदि अभिन्न होनेके कारण पदार्थों को अभिन्न मानकर प्रतिपादन करना सकलादेश है । जैसे घट की सत्ता का जिस काल में प्रतिपादन किया जाता है, उस काल में शेष अनन्त पदार्थो की सत्ता भी रहती है, इसलिये काल एक होनेके कारण घट की सत्ता तथा शेष अनन्त पदार्थों की सत्ता म भी अभेद का आरोप होने से घटकी सत्ता का प्रतिपादन से शेष अनन्त पदार्थों की सत्ता का भी प्रतिपादन हो जाता है । इसलिये घट भी शेष अनन्त पदार्थों से अभिन्न रूप म प्रतिपादित होता ह । तथा पदार्थ पररूप की अपेक्षा से असत् भी है, इसलिये पदार्थ सत् ही है, ऐसा नहीं कहा जासकता । किन्तु कथञ्चित् शब्द के साथ पदार्थ के प्रतिपादन में सातप्रकार के वाक्यप्रयोग होते ह । जैसे–घट कथञ्चित् सत् हीं है । घट कथञ्चित् असत् ही है । घट कथञ्चित् सत् हीं है कथञ्चित् असत् हीं है । इन तीनो वाक्यों में–प्रथम वाक्य में सत्त्वमात्र की विवक्षा है । किन्तु पदार्थ मात्र पररूप की अपेक्षा से असत् भी है । इसलिये सत् हीं है, ऐसा नहीं कहकर कथञ्चित् कहा गया है । ऐसे हीं दूसरे वाक्य म भी असत् की विवक्षा है । तीसरे में सत् की गौण भाव से,

तथा असत् की मुख्य भाव से, या असत् की गौण भाव से तथा सत् की मुख्य भावसे विवक्षा है। दोनों धर्मों को प्रधानभाव से प्रतिपादन करनेवाले शब्द नहीं होनेके कारण दोनों धर्मों के मुख्यभाव से विवक्षा करने पर पदार्थ अवक्तव्य है, किन्तु अवक्तव्यशब्द से उसका प्रतिपादन कथञ्चित् होजाता है। इसलिये 'कथञ्चित् अवक्तव्य है' इस प्रकार का चौथा वाक्य होता है। इस प्रकार सत् और अवक्तव्य इन दोनों धर्मों को एक साथ जोड़कर 'घट कथञ्चित् सत् कथञ्चित् अवक्तव्य ही है।' यह पांचमां वाक्य होता है। इसी प्रकार 'घट कथञ्चित् असत् कथञ्चित् अवक्तव्य हीं है', 'घट कथञ्चित् सत्, कथञ्चित् असत्, कथञ्चित् अवक्तव्य हीं है', इस प्रकार सात प्रकार के वाक्यप्रयोगों से किसी भी वस्तु का यथार्थरूप से प्रतिपादन होता है। इस प्रकार नित्यानित्यत्वादिधर्म का प्रतिपादन करने के लिये भी सप्तभङ्गात्मक वाक्यप्रयोग होता है। किसी भी पदार्थ में किसी भी धर्म का यथास्थितरूप में सप्तभङ्गवाक्य के विना प्रतिपादन नहीं होसकता। नयवाक्य से सामान्यतः किसी एकधर्मात्मक पदार्थ का प्रतिपादन होता है। अनन्तधर्मात्मक पदार्थ का प्रतिपादन सकलादेश से उक्तसप्तभङ्गात्मक वाक्य के द्वारा हीं होता है। इस सप्तभङ्गात्मक वाक्य को हीं प्रमाणवाक्य कहते हैं। ॥ २३ ॥

(जो पदार्थ सत् है, वह असत् नहीं हो सकता, क्यों की सत् असत् दोनों विरुद्ध धर्म है, इस लिये एक पदार्थ में सत्व-असत्त्व दोनो नहीं रह सकते। ऐसे नित्यत्व अनित्यत्व, सामान्य विशेष, वाच्यत्व अवाच्यत्व, भी एकपदार्थ में नहीं रह सकते। ऐसी स्थिति मे पदार्थ अनन्तधर्मात्मक नहीं हो सकते, इस प्रकार का तर्क संगत नहीं। क्यों कि–) अपेक्षा भेद से पदार्थों में सत्त्व असत्त्व, वाच्यत्व अवाच्यत्व आदि धर्म विरुद्ध नहीं है। जैसे एक ही व्यक्ति में पिता की अपेक्षा से पुत्रत्व, तथा पुत्र की अपेक्षा से पितृत्व, दोनो धर्म रहते है। एक की अपेक्षा से ही पितृत्व तथा पुत्रत्व विरुद्ध धर्म है। उस प्रकार ही एक की अपेक्षा से ही सत्त्व असत्त्व आदि धर्म विरुद्ध है। घटादि पदार्थ स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से सत् है, तो वे स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से ही असत् नहीं हो सकते। जैसे कोई व्यक्ति पुत्र की अपेक्षा से ही पिता और पुत्र दोनों नहीं हो सकती। किन्तु अपेक्षाभेद से जैसे एक ही व्यक्ति पिता पुत्र दोनों है। वैसे ही घटादि पदार्थ स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से सत्, द्रव्य की अपेक्षा से नित्य, अनेक धर्मों को प्रधान रूप से एकसाथही विवक्षा करने से अवक्तव्य हैं। तथा परद्रव्यादि की अपेक्षा से असत् पर्याय की अपेक्षा से अनित्य तथा गुणप्रधान भाव से क्रमशः अनेकधर्मों की विवक्षा करने से वक्तव्य है। हे जिनेन्द्र! इस प्रकार सदसदादिधर्मों में रहने वाले अविरोध को जाने विना ही जडमति परतीर्थिक लोग सदसदादि धर्मों के विरोध से डरकर 'पदार्थ सत् ही है,' इस प्रकार एक

न्तवाद को स्वीकार कर मिथ्यात्वग्रस्त होजाते हैं । इसलिये अधोगति को प्राप्त करते हैं। (मुक्ति सम्यग् ज्ञान से ही होती है। एकान्तवाद युक्तिविरुद्ध होने के कारण सम्यग् ज्ञान नहीं है। विरोध के कारण ही एकान्त का समर्थन किया जाता है। किन्तु वास्तव में विरोध सिद्ध ही नही होता। इसलिये एकान्तवाद में कोई तर्क नहीं है, तथा तर्करहित सिद्धान्त मानना ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व से पतन ही होता है, मुक्ति नहीं । अन्यथा सब जीव मुक्त ही हो जायंगे।) ॥ २४ ॥

हे ज्ञानिश्रेष्ठ! एक ही घटादि पदार्थ–"कथञ्चित् (पर्याय की अपेक्षा से) अनित्य, कथञ्चित् (द्रव्य की अपेक्षा से) नित्य, कथञ्चित् (अनुवृत्तिप्रत्ययविषय होने के कारण) सामान्यात्मक, कथञ्चित् (व्यावृत्तिप्रत्ययविषय होने के कारण) विशेषात्मक, कथञ्चित् (गुणप्रधान भाव से क्रमशः अनेकधर्मों की विवक्षा करने से) वक्तव्य, कथञ्चित् (एकसाथ प्रधानभाव से अनेक धर्मों की विवक्षा करने से अवक्तव्य, कथञ्चित् (स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से)सत्, कथञ्चित् (परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से) असत् हैं) इस प्रकार की उक्ति (देशना वाणी) सर्वप्रकार से पदार्थ के तत्त्वज्ञानरूप अमृत के पान से हुई तृप्ति के सूचक पुनः पुनः होने वाले उद्गार ही हैं। (आप को सर्वप्रकार से पदार्थ का तत्त्व ज्ञान है । इसलिये आप की हीं ऐसी यथार्थ उक्ति है। पूर्व में

की गयी परीक्षा से यह बात सिद्ध हो चुकी है । अन्यतीर्थिकों को पदार्थ का तत्त्व ज्ञान नहीं है, इसलिये ही वे एकान्त का प्रतिपादन करते हैं । जिसको पदार्थ का वास्तविक ज्ञान होगा, वह अनेकान्त का ही समर्थन करेगा । इस पद्य में स्याद्वाद के चार मूल भेदों का सङ्ग्रह किया गया है । कथञ्चित् भेद, कथञ्चित् अभेद रूप पाँचवा भेद भी है । जिसका प्रतिपादन सप्तम पद्य में किया गया है । यह बात यहां स्मरण में रखना चाहिये । यहां पर सग्रह नहीं करने का कारण यह हो सकता है कि पदार्थ के नित्यानित्यादि स्वरूप सिद्ध होने पर ही नित्यानित्यत्वादि में भेदाभेदात्मकत्व का समर्थन हो सकता है, अन्यथा नहीं । इसलिये मूलभेद चार ही होते हैं । चारों भेदों में प्रत्येक में परस्पर भेदाभेद है । यह पक्ष पश्चात् तथा उन चारों भेदों के आश्रय से ही उपस्थित होता है, यह स्पष्ट है ।) ॥२५॥

(एकान्तवादियों को अनेकान्तवाद के विरुद्ध में बोलने का अवसर भी नहीं है । क्योंकि) नित्य एकान्त पक्ष में जो दोष हैं, अनित्य एकान्त पक्ष में भी वह सब दोष समान ही हैं । हे जिनेन्द्र ! अल्पज्ञ होने के कारण आप के क्षुद्रशत्रु जैसे एकान्तवादी लोग सुन्दोपसुन्दन्याय से परस्पर ही नष्ट होने वाले हैं । (नित्यवादी अनित्यवादी का तथा अनित्यवादी नित्यवादी का खण्डन करते हैं । इसलिये परस्पर खण्डन करने से स्वयं नष्ट हैं । ऐसी स्थिति में अनेकान्तवाद का खण्डन करने की क्षमता एकान्तवादियों में कैसे होगी ? ।

अपने परस्पर के खण्डन में हीं उनकी शक्ति समाप्त है। इसलिये अगत्या मध्यस्थ अनेकान्तवाद का आश्रय हीं उन लोगों को भी आवश्यक है।) हे जिनेन्द्र ! उक्तकारण से आप का शासन अपराजेय है। इसलिये सर्वोत्कृष्ट है। ॥ २६ ॥

हे जिनेन्द्र ! नित्य एकान्तवाद हों अथवा अनित्य एकान्तवाद हों, किसी भी एकान्तवाद में—सुख दुःख का भोग, पुण्यपाप, बन्ध मोक्ष,—यह सब नहीं हो सकते। (यदि पदार्थ को एकान्त नित्य माना जाय, तो आत्मा एक स्वभाव की ही होगी। जो सदा एक स्वभाव है, उसको ही नित्य कहते है। सुख दुःख दोनों विरुद्ध धर्म हैं। इसलिये एकस्वभाव से इनका भोग नहीं हो सकता। पदार्थ को एकान्त अनित्य मानने से भी यह दोष होता है। क्योंकि सुख दुःख दोनों का भोग विरोधी होने के कारण एक साथ नहीं हो सकता। क्रम से भी नहीं हो सकता। क्योंकि अनित्य पक्ष में पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जायंगे, तो सुख दुःख का भोग किसको होगा ?। तथा नित्य पदार्थ अक्रिय होगा, सक्रिय मानने से क्रियाभेद से स्वभावभेद हो जायगा, तो पदार्थ में नित्यत्व ही नही रहेगा। क्रिया के विना, उससे होने वाले पुण्यपाप कैसे होंगे? । अनित्यपक्ष में भी पुण्यपाप की सिद्धि नही हो सकती। क्योंकि क्रिया करने वाला तो उत्पत्तिकाल में ही नष्ट हो जायगा, तो क्रिया कौन करेगा ?, तथा उससे होने वाले पुण्यपाप

विमर्श होंगे । पुण्यपाप के अभाव होने से भी सुख दुःख का अभाव ही सिद्ध होता है । क्योंकि सुख दुःख का कारण पुण्यपाप है । कारण के अभाव होने से कार्य का अपने आप अभाव हो जायगा । पुण्यपाप नहीं होने से बन्ध भी नहीं होगा । क्योंकि पुण्यपाप ही बन्ध है । बन्ध के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जायगा । क्योंकि बन्धन का मोक्ष होता है । इस प्रकार एकान्त वाद में सुखदुःखभोग आदि का अभाव हो जायगा) । हे जिनेन्द्र ! परतीर्थिकों को एकान्तवाद का व्यसन है । (क्योंकि दोष को देखकर भी उसका त्याग नहीं करते हैं) । इसलिये परतीर्थिक लोग दुर्नीतिवाद (एकान्तवाद) का व्यसनरूपी तलवार से सम्पूर्ण जगत को ही लुप्त करने पर तुले हुए हैं । (पुण्यपाप ही सृष्टि के कारण हैं । एकान्तवाद में पुण्यपाप का सम्भव नहीं । इसलिये कारण नहीं रहने से कार्यरूप जगत् का लोप अनिवार्य हो जायगा । किन्तु ऐसा होना नहीं है, इसलिये एकान्तवादी लोग दुर्नयवादी हैं ।) ॥ २७ ॥

हे जिनेन्द्र ! दुर्नय (एकान्तवाद) के वाक्यों से पदार्थों का 'सद् ही है' इस प्रकार अन्यधर्मों का निषेध कर के ही ग्रहण होता है । (यह दुर्नय इसलिये है कि इस पक्ष में रहने वाले असत्त्व अनित्य आदि धर्मों का निषेध हो जाता है, इसलिये पदार्थों का यथार्थ स्वरूप में ग्रहण नहीं होता है ।) नयवाक्यों से (घटादि

पदार्थ सत् हैं) इस प्रकार पदार्थों का ग्रहण होता है। इस पक्ष में अन्य धर्मों का निषेध नहीं होता हैं, किन्तु विवक्षित धर्म का प्रतिपादन मात्र होता है, इसलिये वस्तु के एक अंश का यथार्थ रूप में ग्राहक होने के कारण यह पक्ष व्यवहार के लिये ग्राह्य है। प्रमाण (सप्तभङ्गात्मक) वाक्यों से (घटादि पदार्थ कथञ्चित् सत् हैं, इस प्रकार) पदार्थों का ग्रहण होता है। यहा कथञ्चित् पद लगने से अन्यधर्मों की भी साथ-साथ सूचना हो जाती है इसलिये इस वाक्य से यथार्थरूप (अनन्तधर्मात्मक रूप) से पदर्थों का प्रतिपादन होता है। जिस वाक्य का अन्य धर्मों के निषेध में तात्पर्य न हो, किन्तु विवक्षित धर्म के प्रतिपादनमात्र में तात्पर्य हो, उसको नयवाक्य कहते हैं। नय सातप्रकार के होते हैं। जैसे– नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द , समभिरूढ, एवंभूत। नैगम नय के अभिप्राय से सामान्य (घटत्व आदि) विशेष (घट आदि) दोनों भिन्न तथा सत् हैं। सग्रहनय के अभिप्राय से सामान्य हीं सत् है, विशेष नहीं। क्यों कि सामान्य से भिन्न विशेष की उपलब्धि नहीं होती है। व्यवहारनय के अभिप्राय से विशेष हीं सत् है, सामान्य नहीं। क्योंकि सामान्य से कोई व्यवहार नहीं होता, तथा विशेष से पृथक् सामान्य उपलब्ध नहीं होता। ऋजुसूत्रनय के अभिप्राय से वर्तमानकालिक वस्तु हीं सत् हैं। क्योंकि अतीत अनागत पदार्थ कार्यकरने वाले नही हैं। और कार्य के विना किसी भी पदार्थ की सत्ता मानी नहीं जा सकती। शब्दनय

के अभिप्राय से समान लिङ्ग तथा सङ्ख्या वाले पर्याय शब्द एक अर्थ के वाचक हैं। किन्तु भिन्न लिङ्ग सङ्ख्या वाले नहीं। जैसे घट, कलश, ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। किन्तु-तट, तटी ये दोनों समानार्थक नहीं है। समभिरूढ नय के अभिप्राय से प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से शब्द भिन्न अर्थ के वाचक होते हैं। जैसे इन्द्र और शक्र ये दोनों समानार्थक नहीं कहे जा सकते। क्योंकि ऐश्वर्य की अपेक्षा से इन्द्र शब्द की प्रवृत्ति है, तथा शक्ति की अपेक्षा से शक्र शब्द की प्रवृत्ति है। इसलिये ऐश्वर्यशाली इन्द्र कहा जाता है, शक्र नहीं, तथा शक्तिशाली को शक्र कह सकते हैं, इन्द्र नहीं। एवम्भूत नय के अभिप्राय से कोई भी शब्द अपनी प्रवृत्तिनिमित्तसहित अर्थ के ही वाचक हो सकते हैं अन्यथा नहीं। जैसे-पानी का लाना आदि घटना (क्रिया) रहने पर ही घट घट है। उक्त क्रिया के अभाव में घर में निष्क्रिय पडा हुआ घट घट नहीं। उस अवस्था में घट का व्यवहार औपचारिक ही है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार नय का सक्षेप में यह विवरण है। इन नयों की अपेक्षा से ही लोग निवश्यावश पदार्थों का प्रतिपादन करते हैं। इसलिये पदार्थ सर्वनयात्मक है। पदार्थों को एकनयात्मक ही मानना दुर्नय है।) हे जिनेन्द्र! आप यथार्थज्ञाता हैं, इसलिये नय तथा प्रमाण मार्ग का आश्रयण कर आप ने दुर्नयमार्ग का तिरस्कार किया है। (एकान्तवाद में

होने वाले दोष यहां नहीं हैं। क्यों कि इस पक्ष में पदार्थ सदसद् नित्यानित्याद्यनन्तधर्मात्मक माना गया है। इसलिये आत्मा द्रव्य-रूप से नित्य है, किन्तु पर्याय रूप से उस में सुख दुःख का भोग, पुण्यपाप की क्रिया, वन्ध मोक्ष, सभी का सम्भव है। एकान्त-वाद में यह सम्भव नहीं; इसका प्रतिपादन पूर्व में हो चुका है। इसलिये निर्दुष्ट पक्ष का स्वीकार करने के कारण जिनेश्वर ही यथार्थ ज्ञानी हैं, दूसरे नहीं।) ॥ २८ ॥

मितात्मवाद (आत्मा अनन्त नही, किन्तु परिमित है, इस प्रकार का सिद्धान्त) मानने से—या तो मुक्त का संसार में आगमन मानना पड़ेगा, या संसार-जीवशून्य हो जायगा। क्यों कि काल अनादि अनन्त है, यदि आत्मा को परिमित माना जाय, तो चिरकाल में भी ज्ञान से सब जीवों की मुक्ति सम्भवित है। ऐसी स्थिति में जीव फिर से भवग्रहण करें, तभी भव रह सकेगा। ऐसी स्थिति में मुक्ति का कोई अर्थ ही नहीं रह जायगा। क्यों कि पुनः भव का न होना ही मुक्ति है। इस प्रकार मितात्म वाद में भव का लोप या मुक्ति का अभाव इन दोनों में से एक दोष अनिवार्य है। हे जिनेद्र! आपने तो षड्जीवकायोंको (पृथ्वी; अप, तेज, वायु, वनस्पति, त्रस-काय) इस प्रकार से अनन्तसंख्यक कहा है, जिससे कोई दोष नहीं होता। (जो अनन्तसंख्यक है, उस में से अनन्त संख्यक पदार्थ के निकाल जाने पर भी, उसकी अनन्तता रहेगी) अन्यथा उसको

अनन्त ही नहीं कहा जा सकता। इसलिये अनादि अनन्त काल में अनन्त जीवों के मुक्त होने पर भी अनन्त जीव सदा ही बद्ध रहेंगे ही। तो भवविलोप कैसे होगा? । तथा मुक्त जीव को भव में पुनरागमन मानने की क्या आवश्यकता ? । इसलिये उपर्युक्त दोष नहीं हो सकता) ॥ २९ ॥

हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार दूसरे प्रवाद=नित्य अनित्य आदि एकान्तवाद (यथाकथञ्चित् छल आदि का आश्रय करके जिस वाद का समर्थन किया जाय ऐसा वाद=प्रवाद, तथा जिसके समर्थन में सत् तर्क का आश्रय लिया जाता है, उसको वाद कहते हैं। दूसरे एकान्तवाद प्रवाद ही हैं, क्योंकि उनके समर्थन में सत्तर्कों का अभाव है, यह बात पूर्व में की गयी परीक्षा से सिद्ध हो चुकी है।) परस्पर पक्ष प्रतिपक्षभाव (एक ही पदार्थ में विरुद्धधर्मों का उपन्यास तथा स्पर्धापूर्वक अपने अपने पक्ष का समर्थन का आग्रह) होने के कारण अत्यन्त असहिष्णु हैं। (एक दूसरे के खण्डन में किञ्चित् भी धैर्य नहीं रखते हैं। किन्तु जिस किसी भी प्रकार से खण्डन में प्रवृत्त रहते हैं। क्योंकि उनको अपने अपने पक्ष में राग है।) हे जिनेन्द्र ! सर्व (सात) नयों को सामान रूप से स्वीकार करने वाला, किसी भी पक्ष में राग रहित आप का सिद्धान्त स्याद्वाद वैसा (असहिष्णु) नहीं है। (आप स्वयं वीत राग हैं, इसलिये आप का सिद्धान्त भी राग रहित है, क्योंकि कारण

के अनुसार हीं कार्य होता है। दूसरे तो स्वयं रागी हैं, तो उनका सिद्धान्त रागरहित कैसे होगा ? । इसलिये आप का सिद्धान्त ही विरोधशून्य होने के कारण तथा समदर्शी होने के कारण ग्राह्य है। अपेक्षाभेद से विरोध नहीं रहने के कारण पदार्थ सर्वनयात्मक हैं, यह सिद्धान्त पूर्व में तर्कों द्वारा सिद्ध हो चुका है। इसलिये स्याद्वाद में पक्षप्रतिपक्षभाव, तथा तन्मूलक असहिष्णुता भी नहीं है।) ॥ २० ॥

हे पूज्यतम ! जिनेन्द्र ! (आप के सिद्धान्त के कितने विषय परीक्षासे सिद्ध हो चुके हैं। किन्तु) आप की सम्पूर्ण वाङ्मयसमृद्धि के विवेचन=परीक्षण की इच्छा भी नही कर सकते हैं। (क्योंकि जो कार्य साध्य होता है, लोग उसकी ही इच्छा भी करते हैं। कोई भी असाध्य कार्य करने की इच्छा नही करता।) यदि वैसी इच्छा करें, तो जांघ के वल से (पाँव के वल पर) समुद्र को लँघने की इच्छा भी कर सकते हैं। तथा चन्द्रकिरण के पीने की इच्छा भी कर सकते हैं (जैसे समुद्र के लांघने तथा चन्द्रकिरण पीने की कोई इच्छा नहीं करता, क्योंकि वह असाध्य है। उसी प्रकार हमलोग भी समुद्र के समान अपार तथा चन्द्रकिरण के समान निर्मल, जगत्प्रकाशक तथा प्रयास करने पर भी दुर्ग्राह्य ऐसे आप के वाड्मय के विवेचन की इच्छा नहीं कर सकते। जिस के विषय में इच्छा भी अशक्य है, उसको कर सकने की वात भी कैसे की जा सकती है ?) ॥ २१ ॥

हे जिनेन्द्र ! दुष्ट तथा नष्टबुद्धिवाले परतीर्थिकों ने ऐन्द्र-जालिक (जादूगर) के जैसे इस ससार को, जहा तत्त्व अतत्त्व का कोई विवेक नहीं है, इसलिये जो अध पतन का निमित्त होने के कारण भयङ्कर है—ऐसे अज्ञानरूपी अन्धकार में धकेल दिया है। (जैसे जादूगर माया का प्रयोग कर लोगों को जीवते हुए को मृत आदि रूप से कुछ का कुछ ही दिखाकर अत्यन्त अज्ञान अवस्था में रखता है। वैसे ही परतीर्थिक लोगो ने असत्तर्कों का आश्रय लेकर सरलमति लोगोंको तत्त्व को अतत्त्व तथा अतत्त्व को तत्त्व बताकर अज्ञानके गढे में धकेल दिये हैं।) किन्तु इस प्रकार से लोगों को ऐह-लौकिक तथा पारलौकिक अहित होता है, इसलिये यह अत्यन्त खेद का विषय है। हे पालनहार ! एसी स्थिति में इस जगत् का, निश्चित रूप से यथार्थवक्ता होने के कारण केवल आप ही उद्धार करने में समर्थ हैं। इसलिये निजहितेच्छु विवेकी लोग आपके विषय में ही सेवा की भावना रखते हैं। (विवेकी लोग रक्षक की ही सेवा करते है। अन्य की सेवा तो उलटे अनर्थकारक ही होगी। यथार्थवक्ता होने के कारण आप ही आप्त तथा सेवनीय हैं) ॥ ३२ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिताऽन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिकास्तुते श्रीतपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकसूरिचक्रचक्रवर्तिजगद्गुरुश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारसमयज्ञ -

शान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरपट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृ-तविद्विशारदाऽऽचार्यवर्यश्रीकस्तूरसूरीश्वरशिष्यश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणि-विरचितःकीर्तिकलाख्यो हिन्दीभाषानुवादः समाप्तः ।

